

Chapter पंद्रह

सुसंस्कृत मनुष्यों के लिए उपदेश

पन्द्रहवें अध्याय का सारांश इस प्रकार है। पिछले अध्याय में श्रीनारद मुनि ने समाज में ब्राह्मण की महत्ता सिद्ध की। इस अध्याय में अब वे ब्राह्मण की विभिन्न कोटियों में अन्तर दिखलाएँगे। ब्राह्मणों में कुछ तो गृहस्थ होते हैं और अधिकतर सकाम कर्मों में या सामाजिक दशाओं के सुधार में आसक्त रहते हैं। किन्तु इनसे भी ऊपर वे ब्राह्मण हैं, जो तपस्या के प्रति अधिक आकृष्ट रहते हैं और पारिवारिक जीवन से विरक्त हो जाते हैं। ये वानप्रस्थ कहलाते हैं। अन्य ब्राह्मण वेदाध्ययन करने तथा अन्यो को वेदों का तात्पर्य बताने में अधिक रुचि लेते हैं। ऐसे ब्राह्मण ब्रह्मचारी कहलाते हैं। कुछ अन्य ब्राह्मण विभिन्न प्रकार के योगों में विशेष रूप से भक्तियोग तथा ज्ञानयोग में रुचि लेते हैं। ऐसे ब्राह्मण अधिकांशतया संन्यासी होते हैं।

जहाँ तक गृहस्थों का सम्बन्ध है वे विभिन्न प्रकार के शास्त्रीय कृत्यों में, विशेषतया अपने पितरों को आहुति देने तथा अन्य ब्राह्मणों को ऐसे यज्ञों में लगी साज-सामग्री दान रूप में लगे रहते हैं। ऐसा

दान सामान्यतया विरक्त जीवन बिताने वाले ब्राह्मण-संन्यासियों को दिया जाता है। यदि ऐसा संन्यासी नहीं मिल पाता तो सकाम कर्मों में रत ब्राह्मण-गृहस्थों को यह दान दिया जाता है।

लोगों को चाहिए कि अपने पितरों को आहुति देने के लिए श्राद्ध उत्सव में विशद प्रबन्ध न करें। श्राद्ध उत्सव मनाने की सर्वोत्तम विधि अपने सारे पितरों तथा सम्बन्धियों को भागवत-प्रसाद का वितरण करना है। यह सर्वोत्तम श्राद्ध कर्म है। श्राद्ध कर्म में मांस परोसने या मांस खाने की आवश्यकता नहीं है। व्यर्थ ही पशुओं का वध करने से बचना चाहिए। समाज में निम्न कोटि के लोग पशुओं का वध करके यज्ञ करना चाहते हैं किन्तु जो ज्ञान में बढ़े-चढ़े हैं उन्हें ऐसी अनावश्यक हिंसा से बचना चाहिए।

ब्राह्मणों को चाहिए कि वे भगवान् विष्णु के पूजन को नियमित करें। जो धर्म-ज्ञान में बढ़े-चढ़े हैं उन्हें पाँच प्रकार के अधर्मों से बचना चाहिए। ये हैं—विधर्म, परधर्म, धर्माभास, उपधर्म तथा छल धर्म। मनुष्य को अपनी स्वाभाविक स्थिति के अनुकूल धर्म के अनुसार कार्य करना चाहिए। ऐसा नहीं है कि सारे लोग एक ही प्रकार के धर्म में दृढ़ बने रहें। सामान्य नियम यह है कि गरीब व्यक्ति व्यर्थ ही आर्थिक विकास के लिए प्रयास न करे। जो ऐसे प्रयासों से बचता है किन्तु भक्ति में लगता है, वह अत्यन्त पुण्यात्मा होता है।

जो अपने मन से तुष्ट नहीं है उसका पतन निश्चित है। मनुष्य को काम, क्रोध, लोभ, भय, शोक, मोह, त्रास, भौतिक विषयों पर व्यर्थ बातें, हिंसा, भौतिक संसार के चार क्लेश तथा तीनों भौतिक गुणों को जीतना चाहिए। यही मनुष्य-जीवन का लक्ष्य है। जिसे श्रीकृष्ण के समरूप अपने गुरु पर श्रद्धा नहीं है, वह शास्त्रों के अध्ययन से कुछ भी लाभ नहीं पा सकता। मनुष्य को गुरु को कभी भी सामान्य पुरुष नहीं समझना चाहिए, भले ही गुरु के परिवार वाले उसे ऐसा मानते हों। ध्यान तथा तपस्या की अन्य विधियाँ तभी लाभप्रद हैं जब वे कृष्णभावनामृत की ओर अग्रसर होने में सहायक हों, अन्यथा वे समय तथा श्रम का अपव्यय हैं। जो भक्त नहीं हैं उन्हें ऐसा ध्यान तथा तपस्या नीचे गिराने वाले हैं।

प्रत्येक गृहस्थ को अत्यन्त सतर्क रहना चाहिए, क्योंकि गृहस्थ भले ही इन्द्रियों को वश में करने का प्रयास क्यों न करे वह अपने सम्बन्धियों की संगति का शिकार होकर में नीचे गिर जाता है। इस तरह गृहस्थ को वानप्रस्थ या संन्यासी बनना चाहिए, अर्थात् एकान्त में रहना चाहिए और द्वार-द्वार

भिक्षा माँगने से जो भोजन मिल जाए उसी से सन्तुष्ट रहना चाहिए। उसे ओङ्कार मंत्र या हरे कृष्ण मंत्र का जप करना चाहिए। इस प्रकार उसे अपने भीतर दिव्य आनन्द की अनुभूति हो सकेगी। किन्तु यदि कोई संन्यास लेने के बाद गृहस्थ जीवन में लौट आता है, तो वह *वान्ताशी* अर्थात् “अपनी ही कै को खाने वाला” कहलाता है। ऐसा व्यक्ति निर्लज्ज होता है। गृहस्थ को न तो संस्कार अनुष्ठानों को छोड़ना चाहिए और न संन्यासी को समाज में रहना चाहिए। यदि संन्यासी इन्द्रियों द्वारा विचलित होता है, तो वह रजो तथा तमो गुणों के वश में रहने वाला ठग है। जब कोई परोपकारी कार्य करके सतोगुणी भूमिका निभाता है, तो ऐसे कार्य भक्ति के मार्ग में अवरोधक बन जाते हैं।

भक्ति में प्रगति करने की सर्वोत्तम विधि गुरु के आदेशों का पालन करना है, क्योंकि गुरु के निर्देश से ही इन्द्रियों को जीता जा सकता है। जब तक कोई पूर्णतः कृष्णभावनाभावित न हो तब तक नीचे गिरने की सम्भावना बनी रहती है। निस्सन्देह, कर्मकाण्ड तथा अन्य सकाम कर्म करते हुए हर क्षण अनेक खतरे बने रहते हैं। सकाम कर्मों को बारह भागों में विभाजित किया गया है। सकाम कर्म करने कारण जिन्हें धर्म पथ कहा जाता है मनुष्य को जन्म-मृत्यु का चक्र स्वीकार करना पड़ता है, किन्तु जब कोई *मोक्ष मार्ग* ग्रहण करता है, जिसे *भगवद्गीता* में *अर्चना मार्ग* कहा गया है, तो मनुष्य को जन्म-मृत्यु के चक्र से छुटकारा मिल जाता है। वेदों में इन दोनों मार्गों को *पितृ यज्ञ* तथा *देव यज्ञ* कहा गया है। जो लोग इन दोनों मार्गों का अनुसरण करते हैं, वे भौतिक शरीर में रहकर भी कभी मोहित नहीं होते। एकेश्वरवादी दार्शनिक, जो अपनी इन्द्रियों को धीर-धीरे वश में कर पाता है, समझता है कि सारे आश्रमों का उद्देश्य मोक्ष है। मनुष्य को शास्त्रों के अनुसार जीवन-यापन करना चाहिए।

यदि वैदिक कर्मकाण्डी व्यक्ति भक्त बन जाता है भले ही वह गृहस्थ क्यों न हों तो उसे कृष्ण की अहैतुकी कृपा प्राप्त होती है। भक्त का उद्देश्य भगवद्धाम को वापस जाना है। ऐसा भक्त कर्मकाण्ड न करने पर भी भगवत्कृपा से आध्यात्मिक चेतना में प्रगति करता है। कोई भी व्यक्ति वास्तव में भक्तों की कृपा से आध्यात्मिक चेतना में सफल हो सकता है या भक्तों से के प्रति अनादर दिखा कर वह आध्यात्मिक चेतना से नीचे गिर सकता है। इस प्रसंग में नारद मुनि ने अपनी कथा कह सुनाई कि किस प्रकार वे गन्धर्वलोक से नीचे आकर शूद्रकुल में उत्पन्न हुए और किस प्रकार उन्नत ब्राह्मणों की सेवा करके ब्रह्मा के पुत्र रूप में उत्पन्न हुए और किस तरह उन्होंने अपना दिव्य पद पुनः प्राप्त किया। इन

कथाओं को सुनाने के बाद नारद मुनि ने पांडवों द्वारा भगवान् से प्राप्त कृपा की पाण्डवों की प्रशंसा की नारद मुनि से सुनने के बाद महाराज युधिष्ठिर कृष्ण के प्रेम में विह्वल हो गये और नारद भी अपने धाम के लिए रवाना हो गये। इस प्रकार शुकदेव गोस्वामी द्वारा दक्ष की कन्याओं की विभिन्न सन्तानों का वर्णन किये जाने के बाद *श्रीमद्भागवत* का सप्तम स्कंध समाप्त होता है।

श्रीनारद उवाच

कर्मनिष्ठा द्विजाः केचित्तपोनिष्ठा नृपापरे ।

स्वाध्यायेऽन्ये प्रवचने केचन ज्ञानयोगयोः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—नारद मुनि ने कहा; कर्म-निष्ठाः—अनुष्ठानों के प्रति आसक्त (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र होने के अनुसार); द्वि-जाः—दो बार जन्म लेने वाले (विशेषतया ब्राह्मण); केचित्—कुछ; तपः-निष्ठाः—तपस्या में आसक्त; नृप—हे राजा; अपरे—अन्य; स्वाध्याये—वैदिक वाङ्मय का अध्ययन करने में; अन्ये—अन्य लोग; प्रवचने—वैदिक वाङ्मय पर भाषण देते हुए; केचन—कुछ; ज्ञान-योगयोः—ज्ञान का अनुशीलन करने तथा भक्तियोग का अभ्यास करने में।

नारद मुनि ने कहा : हे राजन्, कुछ ब्राह्मण सकाम कर्मों में अत्यधिक आसक्त रहते हैं, कुछ तपस्या में और कुछ वैदिक साहित्य का अध्ययन करने में तो कुछ (भले ही कम क्यों न हों) ज्ञान का अनुशीलन करते हैं और विभिन्न योगों का, विशेष रूप से भक्ति योग का अभ्यास करते हैं।

ज्ञाननिष्ठाय देयानि कव्यान्यानन्त्यमिच्छता ।

दैवे च तदभावे स्यादितरेभ्यो यथार्हतः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

ज्ञान-निष्ठाय—निर्विशेषवादी या ब्रह्म में लीन होने के इच्छुक अध्यात्मवादी को; देयानि—दान में दिया जाने वाला; कव्यानि—पितरों को तर्पण में दी गई सामग्री; आनन्त्यम्—भव बन्धन से मुक्ति; इच्छता—इच्छुक व्यक्ति को; दैवे—देवताओं को दी जाने वाली सामग्री; च—भी; तत्-अभावे—ऐसे प्रगत अध्यात्मवादियों के न रहने पर; स्यात्—किया जाय; इतरेभ्यः—अन्यों को (यथा सकाम कर्मियों को); यथा-अर्हतः—योग्यता अनुसार, विवेक से।

जो व्यक्ति अपने पितरों या स्वयं की मुक्ति का इच्छुक हो उसे चाहिए कि ऐसे ब्राह्मण को दान दे जो निर्विशेष-अद्वैतवाद में निष्ठा (ज्ञान निष्ठा) रखता हो। ऐसे उच्च ब्राह्मण के अभाव में, सकाम कर्मों (कर्मकाण्ड) में अनुरक्त ब्राह्मण को दान दिया जाय।

तात्पर्य : भवबन्धन से छूटने की दो विधियाँ हैं—पहली विधि ज्ञान काण्ड तथा कर्म काण्ड है तथा दूसरी विधि उपासना काण्ड है। वैष्णव कभी भी ब्रह्म में लीन नहीं होना चाहते, वे तो भगवान् के नित्य दास बनकर उनकी प्रेमाभक्ति करना चाहते हैं। इस श्लोक में *आनन्त्यम् इच्छता* शब्द उन

व्यक्तियों को बताते हैं, जो भवबन्धन से छूट कर भगवान् में लीन होना चाहते हैं। किन्तु जिन भक्तों का लक्ष्य भगवान् की साक्षात् संगति करना है उन्हें कर्मकाण्ड या ज्ञानकाण्ड के कार्यों को स्वीकार करने की कोई इच्छा नहीं रहती, क्योंकि शुद्ध भक्त इन सबके ऊपर है। *अन्याभिलाषिता शून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।* शुद्ध भक्ति में ज्ञान या कर्म का लेश भी नहीं रहता। फलस्वरूप जब वैष्णवजन दान वितरण करते हैं, तो वे ज्ञानकाण्डी या कर्मकाण्डी ब्राह्मण नहीं ढूँढ़ते। इस प्रसंग में अद्वैत गोस्वामी का उदाहरण सर्वश्रेष्ठ है जिन्होंने अपने पिता का श्राद्धकर्म करने के बाद हरिदास ठाकुर को दान दिया, यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति यह जानता था कि हरिदास ठाकुर मुसलमान परिवार में उत्पन्न हुए हैं, ब्राह्मण परिवार में नहीं, अतएव वे ज्ञानकाण्डी या कर्मकाण्डी नहीं थे।

अतएव दान तो उच्चकोटि के अध्यात्मवादी भक्त को ही देना चाहिए, क्योंकि शास्त्रों की संस्तुति है—

मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः ।

सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने ॥

“हे महामुनि! लाखों मुक्त तथा मुक्ति ज्ञान में सिद्ध व्यक्तियों में से कोई एक भगवान् नारायण या कृष्ण का भक्त होता है। ऐसे भक्त जो पूर्णतः शान्त हों वे अत्यन्त दुर्लभ होते हैं।” (*भागवत* ६.१४.५)। वैष्णव का पद ज्ञानी से ऊँचा होता है अतएव अद्वैत आचार्य ने दान देने के लिए हरिदास ठाकुर को उपयुक्त पात्र समझा। परमेश्वर भी कहते हैं (*हरि भक्ति विलास* १०.१२७) —

न मेऽभक्तश्चतुर्वेदी मद्भक्तः श्वपचः प्रियः ।

तस्मै देयं ततो ग्राह्यं स च पूज्यो यता ह्यहम् ॥

“भले ही कोई व्यक्ति संस्कृत वैदिक-साहित्य का अत्यन्त पंडित क्यों न हो उसे तब तक मेरा भक्त नहीं माना जाता जब तक वह शुद्ध भक्त न हो, किन्तु यदि श्वपच के परिवार में भी उत्पन्न होकर कोई शुद्ध भक्त है और उसे कर्म या ज्ञान का उपभोग करने की लालसा नहीं है, तो वह मुझे अत्यन्त प्रिय होता है। निस्सन्देह उसका सभी तरह से सम्मान होना चाहिए और वह जो भी दे उसे ग्रहण करना चाहिए। ऐसे भक्त मेरे ही समान पूज्य हैं।” अतएव कोई ब्राह्मणकुल में उत्पन्न हो या न हो, किन्तु भगवान् की भक्ति करने से वह कर्मकाण्डी या ज्ञानकाण्डी ब्राह्मणों से ऊपर होता है।

इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि वृन्दावन के कर्मकाण्डी तथा ज्ञानकाण्डी ब्राह्मण कभी-कभी हमारे मन्दिर के निमंत्रण को अस्वीकार कर देते हैं, क्योंकि हमारा मन्दिर अंग्रेज मन्दिर कहलाता है। किन्तु शास्त्रों के साक्ष्य तथा अद्वैत आचार्य द्वारा प्रस्तुत उदाहरण के अनुसार हम भक्तों को प्रसाद देते हैं चाहे वे भारत के हों अथवा यूरोप या अमरीका के। यह शास्त्र का निष्कर्ष है कि तमाम ज्ञानकाण्डी या कर्मकाण्डी ब्राह्मणों को खिलाने की अपेक्षा एक शुद्ध ब्राह्मण को खिलाना श्रेष्ठ है चाहे वह जहाँ का हो। इसकी पुष्टि भगवद्गीता (९.३०) में हुई है—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।

साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥

“कोई चाहे कितना ही गर्हित कर्म क्यों न करे, यदि वह भक्ति में लगा रहता है, तो वह साधु माना जाता है, क्योंकि वह सम्यक् रीति से स्थित रहता है।” अतएव इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता कि कोई ब्राह्मण परिवार का है या अब्राह्मण परिवार का। यदि वह कृष्ण में पूर्णतया अनुरक्त है, तो वह साधु है।

द्वौ दैवे पितृकार्ये त्रीनेकैकमुभयत्र वा ।

भोजयेत्सुसमृद्धोऽपि श्राद्धे कुर्यान्न विस्तरम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

द्वौ—दो; दैवे—देवताओं को आहुति देते समय; पितृ-कार्ये—श्राद्ध कर्म करते समय, जिसमें पितरों को आहुति दी जाती है; त्रीन्—तीन; एक—एक; एकम्—एक; उभयत्र—दोनों अवसरों पर; वा—अथवा; भोजयेत्—भोजन दे; सु-समृद्धः अपि—भले ही वह अत्यन्त धनी हो; श्राद्धे—पितरों को आहुतियाँ देते समय; कुर्यात्—करे; न—नहीं; विस्तरम्—विशद व्यवस्था।

मनुष्य को चाहिए कि देवताओं को आहुति देते समय केवल दो ब्राह्मणों को और पितरों को आहुति देते समय तीन ब्राह्मणों को आमंत्रित करे। अथवा इन दोनों में केवल एक-एक ब्राह्मण काफी होगा। कोई कितना ही ऐश्वर्यवान क्यों न हो, उसे अधिक ब्राह्मण नहीं आमंत्रित करने चाहिए या इन अवसरों पर अत्यन्त खर्चीली व्यवस्था नहीं करनी चाहिए।

तात्पर्य : जैसाकि हम पहले बता चुके हैं, श्रील अद्वैत आचार्य ने पितरों के श्राद्ध-कर्म के समय केवल हरिदास ठाकुर को आमंत्रित किया था। इस तरह उन्होंने इस सिद्धान्त न मेऽभक्तश्चतुर्वेदी मद्भक्तः श्वपचः प्रियः का पालन किया। भगवान् कहते हैं, “मेरा भक्त बनने के लिए वैदिक ज्ञान में पारंगत होना आवश्यक नहीं है। भले ही कोई श्वपच (कुत्ता खाने वाला) परिवार में क्यों न उत्पन्न हो, वह ऐसे

परिवार में जन्म ले करके भी मेरा भक्त बन सकता है और वह मुझे अत्यन्त प्रिय होता है। अतएव मेरे भक्त को भेंट दी जानी चाहिए और मेरा भक्त मुझे जो भी चढ़ाता है उसे स्वीकार करना चाहिए।” इस सिद्धान्त का पालन करते हुए मनुष्य को चाहिए कि उच्चकोटि के ब्राह्मण या वैष्णव को आमंत्रित करे और अपने पितरों का श्राद्ध-कर्म करते समय उसे ही भोजन कराए।

देशकालोचितश्रद्धाद्रव्यपात्रार्हणानि च ।

सम्यग्भवन्ति नैतानि विस्तरात्स्वजनार्पणात् ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

देश—स्थान; काल—समय; उचित—उचित; श्रद्धा—आदर; द्रव्य—अवयव; पात्र—उपयुक्त व्यक्ति; अर्हणानि—पूजा सामग्री; च—तथा; सम्यक्—उचित; भवन्ति—हैं; न—नहीं; एतानि—ये सब; विस्तरात्—विस्तार के कारण; स्व-जन-अर्पणात्—अथवा सम्बन्धियों को आमंत्रित करने से।

यदि कोई श्राद्ध कर्म के समय अनेक ब्राह्मणों या सम्बन्धियों को भोजन कराने की व्यवस्था करता है, तो काल, देश, श्राद्ध, पदार्थ, पात्र और पूजन विधि में त्रुटियाँ होंगी।

तात्पर्य : नारद मुनि ने श्राद्ध कर्म के अवसर पर सम्बन्धियों या ब्राह्मणों को खिलाने के लिए व्यर्थ वृहद् आयोजन करने का निषेध किया है। जो लोग भौतिक दृष्टि से ऐश्वर्यवान हैं, वे इस उत्सव में दिल खोलकर खर्च करते हैं। भारतवासी विशेष रूप से तीन अवसरों पर—सन्तान के जन्म पर, विवाह पर तथा श्राद्ध कर्म पर—दिल खोलकर खर्च करते हैं, लेकिन श्राद्ध कर्म के समय अनेक ब्राह्मणों एवं सम्बन्धियों को आमंत्रित करने में अत्यधिक व्यय करने के लिए शास्त्र मना करते हैं।

देशे काले च सम्प्राप्ते मुन्यन्नं हरिदैवतम् ।

श्रद्धया विधिवत्पात्रे न्यस्तं कामधुगक्षयम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

देशे—उचित स्थान पर यथा तीर्थस्थान पर; काले—शुभ समय पर; च—भी; सम्प्राप्ते—प्राप्त होने पर; मुनि-अन्नम्—घी से तैयार भोजन जो बड़े-बड़े मुनियों के खाने के योग्य हो; हरि-दैवतम्—भगवान् हरि को; श्रद्धया—प्रेम तथा स्नेह से; विधि-वत्—गुरु तथा शास्त्रों के आदेशानुसार; पात्रे—उपयुक्त व्यक्ति में; न्यस्तम्—अर्पित किया गया; कामधुक्—सम्पन्नता का साधन बन जाता है; अक्षयम्—अक्षय, अविनाशी।

जब उपयुक्त शुभ अवसर तथा स्थान प्राप्त हो तो मनुष्य को चाहिए कि अत्यन्त प्रेमपूर्वक भगवान् के अर्चाविग्रह को घी में बना भोजन अर्पित करे और फिर उपयुक्त व्यक्ति अर्थात् वैष्णव या ब्राह्मण को प्रसाद दे। इससे अक्षय समृद्धि आएगी।

देवर्षिपितृभूतेभ्य आत्मने स्वजनाय च ।

अन्नं संविभजन्पश्येत्सर्वं तत्पुरुषात्मकम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

देव—देवता; ऋषि—साधु पुरुष; पितृ—पितरगण; भूतेभ्यः—सामान्य जीवों को; आत्मने—सम्बन्धियों; स्व-जनाय—
पारिवारिक सदस्यों तथा मित्रों को; च—तथा; अन्नम्—भोजन (प्रसाद); संविभजन्—अर्पित करते हुए; पश्येत्—देखे;
सर्वम्—सबों को; तत्—उस; पुरुष-आत्मकम्—भगवान् से सम्बन्धित।

मनुष्य को चाहिए कि देवताओं, साधु पुरुषों, अपने पितरों, लोगों, अपने पारिवारिक सदस्यों, अपने सम्बन्धियों तथा मित्रों को भगवान् के भक्तों के रूप में देखते हुए प्रसाद प्रदान करे।

तात्पर्य : जैसाकि ऊपर कहा गया है, प्रत्येक जीव को भगवान् का अंश मानते हुए प्रसाद बाँटे। यहाँ तक कि गरीबों को भी प्रसाद वितरित करे। कलियुग में प्रत्येक वर्ष अन्नाभाव रहता है और इस तरह परोपकारी लोग गरीबों को खिलाने में दिल खोल कर खर्च करते हैं। इसके लिए उन्होंने दरिद्रनारायण सेवा शब्द ढूँढ़ निकाला है। यह मना है। हर एक को चाहिए कि भव्य प्रसाद का वितरण हर एक को भगवान् का अंग मानते हुए करे न कि वाक्जाल द्वारा गरीब मनुष्य को नारायण बना दे। हर व्यक्ति परमेश्वर से सम्बन्धित है किन्तु उसे यह नहीं सोचना चाहिए कि परमेश्वर से सम्बन्धित होने से वह भगवान् बन गया है। ऐसा मायावाद दर्शन अत्यन्त घातक है, विशेष रूप से भक्त के लिए। इसीलिए श्री चैतन्य महाप्रभु ने मायावादी दार्शनिकों की संगति करने के लिए मना किया है। *मायावादी भाष्य सुनिले हय सर्वनाश*—यदि कोई मायावादी दर्शन से नाता जोड़ता है, तो उसके भक्तिमय जीवन का विनाश अवश्यम्भावी है।

न दद्यादामिषं श्राद्धे न चाद्याद्धर्मतत्त्ववित् ।

मुन्यन्नैः स्यात्परा प्रीतिर्यथा न पशुहिंसया ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; दद्यात्—प्रदान करे; अमिषम्—मांस, मछली, अंडा इत्यादि; श्राद्धे—श्राद्ध कर्म में; न—न तो; च—भी;
अद्यात्—स्वयं खाए; धर्म-तत्त्व-वित्—धार्मिक कृत्यों का वास्तविक विद्वान्; मुनि-अन्नैः—सन्त पुरुषों के लिए घी से बनाये
गये व्यंजनों से; स्यात्—हो; परा—उच्चकोटि की; प्रीतिः—तुष्टि; यथा—भगवान् तथा पितरों के लिए; न—न; पशु-हिंसया—
व्यर्थ ही पशुओं की बलि द्वारा।

धार्मिक सिद्धान्तों से भली-भाँति अवगत मनुष्य को चाहिए कि वह श्राद्ध कर्म में मांस, अंडे या मछली जैसी कोई वस्तु अर्पित न करे और न ही स्वयं भी ऐसी वस्तु खाए, चाहे वह क्षत्रिय ही क्यों न हो। जब घी से बना उपयुक्त भोजन सन्त जनों को दिया जाता है, तो यह कृत्य

पितरों तथा भगवान् को अत्यन्त प्रिय लगता है, क्योंकि वे यज्ञ के नाम पर पशुओं का वध किये जाने पर कभी प्रसन्न नहीं होते।

नैतादृशः परो धर्मो नृणां सद्धर्ममिच्छताम् ।
न्यासो दण्डस्य भूतेषु मनोवाक्कायजस्य यः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; एतादृशः—इस तरह का; परः—परम या श्रेष्ठ; धर्मः—धर्म; नृणाम्—मनुष्यों का; सत्-धर्मम्—श्रेष्ठ धर्म; इच्छताम्—के लिए इच्छुक; न्यासः—त्याग कर; दण्डस्य—ईर्ष्या के कारण कष्ट देते हुए; भूतेषु—जीवों में; मनः—मन; वाक्—शब्द; काय-जस्य—तथा शरीर से; यः—जो।

जो लोग श्रेष्ठ धर्म में प्रगति करना चाहते हैं उन्हें सलाह दी जाती है कि वे अन्य जीवों से शरीर, वाणी या मन सम्बन्धी सारी ईर्ष्या छोड़ दें। इससे बढ़कर कोई अन्य धर्म नहीं है।

एके कर्ममयान्यज्ञान्ज्ञानिनो यज्ञवित्तमाः ।
आत्मसंयमनेऽनीहा जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

एके—कोई-कोई, कुछ; कर्म-मयान्—कर्मफल से युक्त (यथा पशु-वध); यज्ञान्—यज्ञ; ज्ञानिनः—ज्ञान में अग्रसर लोग; यज्ञ-वित्-तमाः—यज्ञ के उद्देश्य को भलीभाँति जानने वाला; आत्म-संयमने—आत्म संयम द्वारा; अनीहाः—निष्काम; जुह्वति—यज्ञ करता है; ज्ञान-दीपिते—पूर्ण ज्ञान से प्रकाशित।

आध्यात्मिक ज्ञान से जागृत होने से यज्ञ के विषय में बुद्धिमान व्यक्ति, धार्मिक नियमों के वास्तविक ज्ञाता तथा निष्काम व्यक्ति अपने को आध्यात्मिक ज्ञान की अथवा परम सत्य विषयक ज्ञान की अग्नि में संयमित बनाते हैं। वे कर्मकाण्डीय अनुष्ठान विधि को त्याग सकते हैं।

तात्पर्य : लोग स्वर्ग जाने के लिए कर्मकाण्ड अनुष्ठानों में अधिक रुचि रखते हैं किन्तु जब आध्यात्मिक ज्ञान जागृत हो जाता है, तो वे ऊपर उठने के प्रति उदासीन होकर जीवन-लक्ष्य खोजने के लिए ज्ञान यज्ञ में लग जाते हैं। जीवन का लक्ष्य जन्म तथा मृत्यु के दुखों को पूरी तरह रोक कर भगवद्धाम को वापस जाना है। जब मनुष्य इस उद्देश्य के लिए ज्ञान का अनुशीलन करता है, तो वह कर्म यज्ञ में लगे हुए लोगों की तुलना में उच्चतर पद पर स्थित समझा जाता है।

द्रव्ययज्ञैर्यक्ष्यमाणं दृष्ट्वा भूतानि बिभ्यति ।
एष माकरुणो हन्यादतज्ज्ञो ह्यसुतृध्रुवम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

द्रव्य-यज्ञैः—पशुओं तथा अन्य खाद्य वस्तुओं से; यक्ष्यमाणम्—ऐसे यज्ञों में व्यस्त व्यक्ति; दृष्ट्वा—देख कर; भूतानि—जीवों (पशु) को; बिभ्यति—डर जाता है; एषः—यह व्यक्ति (यज्ञकर्ता); मा—मुझको; अकरुणः—निर्दयी; हन्यात्—मार डालेगा; अ-तत्-ज्ञः—अत्यन्त अज्ञानी; हि—निस्सन्देह; असु-तृप्—अन्यों को मार कर सन्तुष्ट रहने वाला; ध्रुवम्—निश्चय ही।

यज्ञ सम्पन्न करने वाले व्यक्ति को देखकर बलि दिये जाने वाले सारे पशु यह सोचकर अत्यन्त डरे रहते हैं कि “यह निर्दय यज्ञकर्ता यज्ञ के उद्देश्य से अनजान होने तथा अन्यों का वध करके परम सन्तुष्ट होने के कारण हमें निश्चित रूप से मार डालेगा।”

तात्पर्य : धर्म के नाम पर प्रायः सारे विश्व में प्रत्येक स्थापित धर्म में पशु-यज्ञ प्रचलित है। कहा जाता है कि जब जीसस क्राइस्ट केवल बारह वर्ष के थे तो यहूदियों को पूजागृह में पशु-पक्षियों की बलि चढ़ाते देखकर उन्हें आघात पहुंचा था। अतएव उन्होंने यहूदी धर्म त्यागकर ईसाई धर्म चलाया जिसमें पुराने टेस्टामेंट के आदेश “तू वध नहीं करेगा” का दृढ़ता से पालन किया जाता था। किन्तु इस समय यज्ञ के नाम पर न केवल पशुओं का वध किया जाता है, अपितु कसाईघरों की संख्या बढ़ जाने से पशु-वध में प्रचुर वृद्धि हुई है। धर्म या भोजन के लिए पशुओं का वध अत्यन्त घृणित है और यहाँ पर उसकी भर्त्सना की जाती है। जब तक कोई निर्दय न हो, वह धर्म के नाम पर और भोजन के लिए पशुओं की बलि नहीं चढ़ा सकता।

तस्माद्देवोपपन्नेन मुन्यन्नेनापि धर्मवित् ।

सन्तुष्टोऽहरहः कुर्यान्नित्यनैमित्तिकीः क्रियाः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अतएव; दैव-उपपन्नेन—भगवत्कृपा से सरलता से प्राप्य; मुनि-अन्नेन—(घी से तैयार तथा भगवान् को अर्पित) भोजन से; अपि—निस्सन्देह; धर्म-वित्—धर्म में बढ़ा-चढ़ा; सन्तुष्टः—अत्यन्त सुखपूर्वक; अहः अहः—दिन प्रति दिन; कुर्यात्—करे; नित्य-नैमित्तिकीः—नियमित तथा कभी-कभी; क्रियाः—कर्तव्य।

अतएव जो वास्तव में धर्म के सिद्धान्तों से अभिज्ञ है और बेचारे पशुओं से अत्यधिक ईर्ष्या नहीं करता उसे दिन-प्रति-दिन प्रसन्नतापूर्वक नैतिक तथा किन्हीं विशेष अवसरों पर किये जाने वाले यज्ञों को भगवत्कृपा से जो भी भोजन सरलता से उपलब्ध हो जाये उसी से सम्पन्न करना चाहिए।

तात्पर्य : धर्मवित् शब्द महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ है “जो धर्म के वास्तविक प्रयोजन को जानता है।” जैसाकि भगवद्गीता (१८.६६) में बताया गया है—सर्व-धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज—धर्म को समझने में कृष्णभावनाभावित होना सर्वोच्च अवस्था है। जो इस अवस्था तक पहुँच जाता है, वह

भक्ति की अर्चना विधि को सम्पन्न करता है। चाहे कोई गृहस्थ हो या संन्यासी, वह अपने पास उचित रूप से पैक किया हुआ भगवान् का छोटा अर्चाविग्रह रख सकता है या सम्भव हो तो स्थापित कर सकता है और इस तरह राधा-कृष्ण, सीताराम, लक्ष्मी नारायण, भगवान् जगन्नाथ या श्री चैतन्य महाप्रभु के अर्चाविग्रहों की पूजा घी से बना भोजन अर्पित करके कर सकता है। फिर वह इस पवित्र किए गए प्रसाद को पितरों, देवताओं या अन्य जीवों को नैतिक कर्म की भाँति प्रदान कर सकता है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन के सारे केन्द्रों में अर्चाविग्रह पूजन का कार्य अत्यन्त सुन्दर ढंग से चलता आ रहा है जहाँ अर्चाविग्रह को अर्पित करने के बाद भोजन को उच्चकोटि के ब्राह्मणों तथा वैष्णवों में, यहाँ तक कि सामान्य लोगों तक में, वितरित कर दिया जाता है। इस तरह से सम्पन्न किये गये यज्ञ से पूर्ण संतुष्टि मिलती है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन के सारे सदस्य नित्य ऐसे दिव्य कार्य करते हैं। अतएव हमारे इस आन्दोलन में पशुओं के वध का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

विधर्मः परधर्मश्च आभास उपमा छलः ।

अधर्मशाखाः पञ्चेमा धर्मज्ञोऽधर्मवन्त्यजेत् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

विधर्मः—अधर्म; पर-धर्मः—अन्यों द्वारा अभ्यास किये जाने वाला धर्म; च—तथा; आभासः—दिखावटी धर्म; उपमा—सिद्धान्त जो धार्मिक लगते हैं किन्तु होते नहीं; छलः—ठगने वाला धर्म; अधर्म-शाखाः—जो अधर्म की विभिन्न शाखाएँ हैं; पञ्च—पाँच; इमाः—ये; धर्म-ज्ञः—धर्म को जानने वाला; अधर्म-वत्—उन्हें अधार्मिक के रूप में स्वीकार करते हुए; त्यजेत्—त्याग दे।

अधर्म की पाँच शाखाएँ हैं, जो विधर्म, परधर्म, आभास, उपधर्म तथा छल धर्म के नाम से उचित रूप में विख्यात हैं। जो असली धार्मिक जीवन से अवगत हो उसे इन पाँचों को अधर्म मानकर इनका परित्याग कर देना चाहिए।

तात्पर्य : कोई भी धर्म जो भगवान् कृष्ण के चरणकमलों की शरण ग्रहण करने का विरोधी हो उसे विधर्म या छल धर्म माना जाना चाहिए और जो वास्तव में धर्म में रुचि रखता हो उसे इनका परित्याग कर देना चाहिए। उसे एकमात्र कृष्ण के आदेशों का पालन करना चाहिए और उनकी शरण ग्रहण करनी चाहिए। ऐसा करने के लिए निस्सन्देह, उत्तम बुद्धि की आवश्यकता होती है, जो अनेक जन्मों के बाद भक्तों की सत्संगति करने तथा कृष्णभावनामृत का अभ्यास करने के बाद ही जागृत हो

सकती है। श्रीकृष्ण द्वारा संस्तुत धर्म—*सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज*—के अतिरिक्त प्रत्येक धर्म को अधर्म समझ कर त्याग देना चाहिए।

धर्मबाधो विधर्मः स्यात्परधर्मोऽन्यचोदितः ।

उपधर्मस्तु पाखण्डो दम्भो वा शब्दभिच्छलः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

धर्म-बाधः—अपने धर्म को लागू होने से रोकता है; विधर्मः—धर्म के विरुद्ध; स्यात्—हो; पर-धर्मः—ऐसे धर्म का अनुकरण जिसके लिए वह अनुपयुक्त हो; अन्य-चोदितः—किसी अन्य के द्वारा चालू किया गया; उपधर्मः—मनगढ़ंत धर्म; तु—निस्सन्देह; पाखण्डः—जो वेदों के नियमों, प्रामाणिक शास्त्रों के विरुद्ध है; दम्भः—जो मिथ्या ही गर्वित है; वा—अथवा; शब्द-भित्—शब्द जाल से; छलः—ठगने वाला धर्म।

जो धार्मिक नियम किसी को अपना धर्म पालन करने से रोकते हैं विधर्म कहलाते हैं। अन्यो द्वारा चालू किये गये धार्मिक नियम पर-धर्म कहलाते हैं। जो मिथ्या गर्व करता है और वेदों के नियमों का विरोध करता है उसके द्वारा सृजित नये प्रकार का धर्म उपधर्म कहलाता है। शब्द जाल द्वारा विवेचना छल धर्म है।

तात्पर्य : नये प्रकार के धर्म को जन्म देना इस युग का फैशन बन चुका है। तथाकथित स्वामी और योगी इसका समर्थन करते हैं कि मनुष्य अपनी रुचि के अनुसार किसी भी प्रकार के धर्म का पालन कर सकता है क्योंकि सारी प्रणालियाँ अन्ततोगत्वा एक हैं। किन्तु *श्रीमद्भागवत* में ऐसे फैशनपरस्त विचारों को *विधर्म* कहा गया है क्योंकि ये अपनी ही धार्मिक प्रणाली के विरुद्ध होते हैं। भगवान् ने असली धार्मिक प्रणाली का वर्णन किया है—*सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज*। असली धार्मिक प्रणाली भगवान् के चरणकमलों में शरण ग्रहण करना है। *श्रीमद्भागवत* के छठे स्कंध में अजामिल के उद्धार के प्रसंग में यमराज कहते हैं—*धर्म तु साक्षाद् भगवत्प्रणीतम्*—असली धर्म वह है, जो भगवान् द्वारा प्रदत्त है, जिस प्रकार असली विधिशास्त्र वह है, जो सरकार द्वारा प्रदत्त है। कोई अपने घर में न तो असली विधि (कानून) बना सकता है न ही वास्तविक धर्म बना सकता है। अन्यत्र कहा गया है—*स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे*—असली धार्मिक प्रणाली वह है, जो मनुष्य को भगवान् का भक्त बना देती है। अतएव प्रगतिशील कृष्णभावनामृत की इस धार्मिक प्रणाली से जो कुछ भी विपरीत है, वह *विधर्म, परधर्म, उपधर्म या छल धर्म* कहलाता है। *भगवद्गीता* की गलत व्याख्या *छल-धर्म* है। जब कृष्ण कुछ कहते हैं, किन्तु मूढ़ विवेचक उसका कुछ भिन्न अर्थ लगाते हैं, तो यह

छल धर्म, ठगने का धर्म या शब्दभित् या शब्द जाल है। मनुष्य को धर्म की इन छलने वाली विविध प्रणालियों से बचना चाहिए।

यस्त्विच्छया कृतः पुम्भिराभासो ह्याश्रमात्पृथक् ।

स्वभावविहितो धर्मः कस्य नेष्टः प्रशान्तये ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; तु—निस्सन्देह; इच्छया—मनमाने ढंग से; कृतः—किया गया; पुम्भिः—मनुष्यों द्वारा; आभासः—धुंधली छाया; हि—निस्सन्देह; आश्रमात्—जीवन के आश्रम से; पृथक्—भिन्न; स्व-भाव—अपने स्वभाव के अनुसार; विहितः—संयमित; धर्मः—धार्मिक नियम; कस्य—किस बात में; न—नहीं; इष्टः—समर्थ; प्रशान्तये—सभी प्रकार के कष्ट से छुटकारे के लिए।

ऐसी कोई भी बनावटी धार्मिक प्रणाली, जो ऐसे व्यक्ति द्वारा बनाई गई हो जो जानबूझ कर अपने आश्रम के नियत कर्तव्यों की उपेक्षा करता है, आभास कहलाती है। किन्तु यदि कोई अपने किसी आश्रम विशेष या वर्ण के अनुसार अपने नियत कर्तव्य करता है, तो फिर वे सारे भौतिक कष्टों को भगाने के लिए पर्याप्त क्यों नहीं हैं ?

तात्पर्य : यहाँ यह इंगित किया है कि हर एक को शास्त्रों में दिये वर्ण तथा आश्रम के नियमों का कठोरता से पालन करना चाहिए। विष्णु पुराण (३.८.९) में कहा गया है—

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान् ।

विष्णुराराध्यते पन्था नान्यत् तत्तोषकारणम् ॥

मनुष्य को अपनी उन्नति के लिए लक्ष्य पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए और यह है कृष्णभावनाभावित होना। यही सारे वर्णों तथा आश्रमों का लक्ष्य तथा अन्त है। किन्तु यदि विष्णु की पूजा नहीं की जाती तो वर्णाश्रम संस्था के अनुयायी कोई मनगढंगत ईश्वर बना लेते हैं। इस तरह किसी भी धूर्त या मूर्ख के द्वारा अपने को ईश्वर चुनवा लेना एक फैशन बन चुका है और ऐसे अनेक धर्मोपदेशक हैं जिन्होंने अपने-अपने ईश्वर गढ़ लिए हैं और असली ईश्वर से अपना नाता तोड़ लिया है। भगवद्गीता में स्पष्ट कहा गया है कि जो देवताओं को पूजता है उसकी बुद्धि नष्ट हो गई होती है। फिर भी हम देखते हैं कि ऐसा निपट अनपढ़ व्यक्ति जिसकी बुद्धि नष्ट हो चुकी होती है ईश्वर चुन लिया जाता है। यद्यपि उसका एक मन्दिर होता है किन्तु उसके संन्यासी मांसभक्षक होते हैं और वहाँ अनेक भ्रष्ट कार्य चलते रहते हैं। ऐसी धार्मिक प्रणाली जो बेचारे अनुयायियों को दिग्भ्रमित करती है पूरी तरह वर्जित है। ऐसे बनावटी धर्मों को एकदम ठप्प कर देना चाहिए।

मूल प्रणाली यह है कि ब्राह्मण वास्तव में ब्राह्मण बने। वह न केवल ब्राह्मण परिवार में जन्म ले, अपितु योग्य भी बने। साथ ही यदि कोई ब्राह्मणकुल में जन्म न ले, किन्तु ब्राह्मण के गुणों से युक्त हो तो उसे ब्राह्मण माना जाये। इस प्रणाली का दृढ़ता से पालन करने से मनुष्य बिना किसी अतिरिक्त प्रयास के ही सुखी बन सकता है। *स्वभावविहितो धर्मः कस्य नेष्टः प्रशान्तये।* जीवन का असली उद्देश्य दुख को दूर करना है और शास्त्र के नियमों का पालन करके इसे सरलता से किया जा सकता है।

धर्मार्थमपि नेहेत यात्रार्थं वाधनो धनम् ।

अनीहानीहमानस्य महाहेरिव वृत्तिदा ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

धर्म-अर्थम्—धर्म तथा आर्थिक विकास में; अपि—निस्सन्देह; न—नहीं; ईहेत—प्राप्त करने का प्रयत्न करे; यात्रा-अर्थम्—एकसाथ शरीर और आत्मा के जीवननिर्वाह के लिए; वा—अथवा; अधनः—निर्धन; धनम्—धन; अनीहा—अनिच्छा; अनीहमानस्य—ऐसे व्यक्ति का, जो अपनी जीविका कमाने के लिए प्रयास नहीं करता; महा-अहेः—अजगर; इव—सदृश; वृत्ति-दा—जो प्रयास किये बिना जीविका प्राप्त करता है।

निर्धन होकर भी मनुष्य को अपने शरीर-निर्वाह के लिए या विख्यात धर्मज्ञ बनने के लिए अपनी आर्थिक दशा सुधारने का प्रयास नहीं करना चाहिए। जिस प्रकार एक अजगर एक ही स्थान पर पड़ा रहकर तथा अपनी जीविका के लिए कोई प्रयास (चेष्टा) न करते हुए भी शरीर-निर्वाह के लिए भोजन प्राप्त कर लेता है उसी प्रकार निष्काम व्यक्ति बिना किसी चेष्टा के अपनी जीविका कमा लेता है।

तात्पर्य : मनुष्य शरीर कृष्णभावनामृत विकसित करने मात्र के लिए मिला है। मनुष्य को अपने शरीर निर्वाह के लिए किसी प्रकार की जीविका अर्जित करने का प्रयास करने की भी आवश्यकता नहीं है। इसे अजगर का उदाहरण देकर समझाया गया है। अजगर एक ही स्थान पर लेटा रहता है और अपने उदर-पोषण के लिए जीविकोपार्जन हेतु इधर-उधर नहीं जाता है फिर भी भगवान् की कृपा से उसका पालन होता है। जैसाकि नारद मुनि ने उपदेश दिया है (*भागवत १.५.१८*)—*तस्यैव हेतोः प्रयतेत कोविदः*—मनुष्य को केवल कृष्णभावनामृत को बढ़ाने की चेष्टा करनी चाहिए। उसे किसी वस्तु की इच्छा नहीं करनी चाहिए, यहाँ तक कि जीविकोपार्जन की भी नहीं करना चाहिए। इस मनोवृत्ति के अनेक उदाहरण प्राप्त हैं। उदाहरणार्थ माधवेन्द्र पुरी कभी किसी से भोजन माँगने नहीं जाते थे। शुकदेव गोस्वामी ने भी कहा है—*कस्माद् भजन्ति कवयो धनदुर्मदान्धान्।* ऐसे व्यक्ति के पास क्यों जाया जाये

जो धन से अन्धा हो गया हो? प्रत्युत मनुष्य को कृष्ण पर आश्रित रहना चाहिए, वे ही सब कुछ प्रदान करेंगे। हमारे कृष्णभावनामृत आन्दोलन के सारे सदस्यों को, चाहे वे गृहस्थ हों या संन्यासी, दृढ़ता के साथ कृष्णभावनामृत आन्दोलन का प्रसार करना चाहिए। कृष्ण सारी आवश्यकताएँ पूरी करेंगे। इस प्रसंग में अजगर वृत्ति को अत्यधिक सराहा गया है। कोई अत्यंत निर्धन क्यों न हो, उसे कृष्णभावनामृत मात्र में अग्रसर होने का प्रयास करना चाहिए और अपनी जीविका कमाने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए।

सन्तुष्टस्य निरीहस्य स्वात्मारामस्य यत्सुखम् ।

कुतस्तत्कामलोभेन धावतोऽर्थेहया दिशः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

सन्तुष्टस्य—कृष्णभावनामृत से संतुष्ट व्यक्ति का; निरीहस्य—अपनी जीविका के लिए चेष्टा न करने वाले का; स्व—निज; आत्म-आरामस्य—आत्मतुष्ट का; यत्—जो; सुखम्—सुख; कुतः—कहाँ; तत्—ऐसा सुख; काम-लोभेन—विषय तथा लोभ से प्रेरित; धावतः—इधर-उधर दौने वाले का; अर्थ—ईहया—धन संग्रह करने की इच्छा से; दिशः—सभी दिशाओं में।

जो आत्मतुष्ट है और अपने कर्मों को प्रत्येक हृदय में निवास करने वाले भगवान् से जोड़ता है, वह अपनी जीविका के लिए चेष्टा किये बिना दिव्य सुख भोगता है। भला उस भौतिकतावादी के लिए ऐसा सुख कहाँ जो विषय तथा लोभ से प्रेरित रहता है और जो धन जोड़ने की इच्छा से सभी दिशाओं में भागता रहता है?

सदा सन्तुष्टमनसः सर्वाः शिवमया दिशः ।

शर्कराकण्टकादिभ्यो यथोपानत्पदः शिवम् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

सदा—सदैव; सन्तुष्ट-मनसः—आत्मतुष्ट व्यक्ति के लिए; सर्वाः—हर वस्तु; शिव-मयाः—शुभ; दिशः—सभी दिशाओं में; शर्करा—कंकड़ों पत्थरों; कण्टक-आदिभ्यः—तथा काँटा आदि से.; यथा—जिस तरह; उपानत्-पदः—ऐसे व्यक्ति के लिए जो पाँवों में जूते पहने हो; शिवम्—कोई भय नहीं है (शुभ)।

जिसके पाँवों में उचित जूते हों उसे कंकड़-पत्थरों तथा काँटों पर चलने में कोई भय नहीं लगता। उसके लिए सभी कुछ कल्याणमय (शुभ) है। इसी प्रकार जो सदैव आत्मतुष्ट रहता है उसे दुख नहीं सताते; वह सर्वत्र सुख का अनुभव करता है।

सन्तुष्टः केन वा राजन्न वर्तेतापि वारिणा ।

औपस्थ्यजैह्व्यकार्पण्याद्गृहपालायते जनः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

सन्तुष्टः—सदैव आत्मतुष्ट रहने वाला व्यक्ति; केन—क्यों; वा—अथवा; राजन्—हे राजा; न—नहीं; वर्तेत—(सुखपूर्वक) रहना चाहिए; अपि—भी; वारिणा—जल पीकर; औपस्थ्य—विषयेन्द्रियों के कारण; जैह्व्य—तथा जीभ के कारण; कार्पण्यात्—बुरी दशा होने से; गृह-पालायते—घरेलू कुत्ते की तरह बन जाता है; जनः—ऐसा व्यक्ति ।

हे राजन्, आत्मतुष्ट व्यक्ति केवल जल पीकर भी सुखी रह सकता है। किन्तु जो व्यक्ति इन्द्रियों द्वारा चालित है, विशेष रूप से जो जीभ और जननेन्द्रियों के वश में होता है उसे अपनी इन्द्रियों की तुष्टि के लिए घरेलू कुत्ते का पद स्वीकार करना पड़ता है।

तात्पर्य : शास्त्रों के अनुसार ब्राह्मण या कृष्णभावनामृत में सुसंस्कृत व्यक्ति अपने जीवन-निर्वाह के लिए, विशेष रूप से इन्द्रियों की तुष्टि के लिए, किसी की नौकरी नहीं करेगा। असली ब्राह्मण सदा तुष्ट रहता है। यदि उसके पास खाने को कुछ भी नहीं रहता तो वह थोड़ा जल पीकर सन्तुष्ट हो सकता है। यह अभ्यास की बात है। किन्तु दुर्भाग्यवश किसी को यह शिक्षा नहीं दी जाती कि आत्म-साक्षात्कार में किस तरह तुष्ट रहा जाये। जैसाकि ऊपर बताया जा चुका है भक्त इसीलिए सदा संतुष्ट रहता है, क्योंकि उसे अपने हृदय के भीतर परमात्मा की उपस्थिति का आभास होता रहता है और वह उन्हीं के विषय में चौबीसों घंटे चिन्तन करता है। यही असली तुष्टि है। भक्त कभी भी जीभ तथा जननेन्द्रियों के आदेशों पर नहीं चलता अतएव वह कभी भी प्रकृति के नियमों द्वारा दण्डित नहीं होता।

असन्तुष्टस्य विप्रस्य तेजो विद्या तपो यशः ।

स्रवन्तीन्द्रियलौल्येन ज्ञानं चैवावकीर्यते ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

असन्तुष्टस्य—आत्मतुष्ट न होने वाले; विप्रस्य—ब्राह्मण का; तेजः—बल; विद्या—शिक्षा; तपः—तपस्या; यशः—कीर्ति; स्रवन्ति—चुक जाते हैं; इन्द्रिय—इन्द्रियों के; लौल्येन—लालच से; ज्ञानम्—ज्ञान; च—तथा; एव—निश्चय ही; अवकीर्यते—धीरे-धीरे लुप्त हो जाता है।

भक्त या ब्राह्मण जो आत्म-तुष्ट नहीं होता, उसका आध्यात्मिक ज्ञान, विद्या, तपस्या तथा कीर्ति उसकी इन्द्रियलोलुपता के कारण क्षीण हो जाते हैं और उसका ज्ञान शनैः शनैः लुप्त हो जाता है।

कामस्यान्तं हि क्षुत्तृड्भ्यां क्रोधस्यैतत्फलोदयात् ।

जनो याति न लोभस्य जित्वा भुक्त्वा दिशो भुवः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

कामस्य—इन्द्रियतृप्ति या शरीर की किसी अविलम्ब आवश्यकता के लिए इच्छा का; अन्तम्—अन्त; हि—निस्सन्देह; क्षुत्-तृड्भ्याम्—भूखे या प्यासे के द्वारा; क्रोधस्य—क्रोध का; एतत्—यह; फल-उदयात्—प्रताड़न का उदय होने तथा उसके फल

से; जनः—मनुष्य; याति—पार कर लेता है; न—नहीं; लोभस्य—लालच का; जित्वा—जीतकर; भुक्त्वा—भोगकर; दिशः—सारी दिशाएँ; भुवः—भूमण्डल की।

भूख तथा प्यास से पीड़ित मनुष्य की प्रबल शारीरिक इच्छाएँ तथा आवश्यकताएँ भोजन करने के बाद निश्चित रूप से तुष्ट हो जाती हैं। इसी प्रकार यदि कोई क्रोध करता है, तो प्रताड़ना तथा उसके फल द्वारा क्रोध तुष्ट हो जाता है। लेकिन जहाँ तक लालच की बात है, यदि लालची व्यक्ति संसार की सारी दिशाओं को जीत ले या संसार की प्रत्येक वस्तु का भोग कर ले तो भी वह तुष्ट नहीं होगा।

तात्पर्य : भगवद्गीता (३.३७) में कहा गया है कि इस संसार में काम, क्रोध तथा लोभ बद्धजीव के बन्धन के कारण होते हैं। काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः। जब इन्द्रियतृप्ति के लिए प्रबल विषयवासना की पूर्ति नहीं होती तो मनुष्य क्रोध करता है। यह क्रोध तभी शमित होता है जब वह अपने शत्रु को ताड़ित कर लेता है, किन्तु जब लोभ बढ़ जाता है, तो भला मनुष्य कृष्णभावनामृत में किस तरह प्रगति कर सकता है क्योंकि लोभ रजोगुण से उत्पन्न सबसे बड़ा शत्रु है।

यदि कोई कृष्णभावनामृत को बढ़ाने के लिए अत्यधिक लोभ करता है, तो यह महान् वरदान है। तब लौल्यमेकलं मूलम्। यह सर्वश्रेष्ठ सुलभ मार्ग है।

पण्डिता बहवो राजन्बहुज्ञाः संशयच्छिदः ।

सदसस्पतयोऽप्येके असन्तोषात्पतन्त्यधः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

पण्डिताः—पण्डित; बहवः—अनेक; राजन्—हे राजा (युधिष्ठिर); बहु-ज्ञाः—अनुभवी व्यक्ति; संशय-च्छिदः—कानूनी सलाह देने में पटु; सदसः पतयः—विद्वत् सभाओं का सभापति चुने जाने योग्य व्यक्ति; अपि—भी; एके—एक अवगुण से; असन्तोषात्—केवल असन्तोष या लालसा के कारण; पतन्ति—नीचे गिरते हैं; अधः—जीवन के नरक में।

हे राजा युधिष्ठिर, अनेक अनुभवी व्यक्ति, अनेक विधि सलाहकार, अनेक विद्वान तथा विद्वत्सभाओं के सभापति बनने योग्य अनेक व्यक्ति अपने-अपने पदों से सन्तुष्ट न होने के कारण नारकीय जीवन में जा गिरते हैं।

तात्पर्य : आध्यात्मिक उन्नति के लिए मनुष्य को भौतिक दृष्टि से संतुष्ट होना चाहिए क्योंकि ऐसा न होने पर भौतिक विकास के लालच से उसकी आध्यात्मिक प्रगति अस्त-व्यस्त हो जाएगी। ऐसी दो बातें हैं, जो सारे सद्गुणों को व्यर्थ कर देती हैं। एक है विपन्नता या दरिद्रता। दरिद्रदोषो गुणराशिनाशी। यदि कोई फटेहाल (दरिद्र) है, तो उसके सारे सद्गुण व्यर्थ हो जाते हैं। इसी प्रकार यदि कोई

अत्यधिक लालची (लोभी) हो जाता है, तो उसके सारे सद्गुण नष्ट हो जाते हैं। अतएव ऐसा तालमेल होना चाहिए कि मनुष्य दरिद्र न हो, किन्तु वह जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं से तुष्ट होने का प्रयत्न करे तथा लालच न करे। अतएव आध्यात्मिक उन्नति के लिए भक्त के लिए सर्वश्रेष्ठ सलाह यही है कि वह न्यूनतम आवश्यकताओं से तुष्ट रहे। फलस्वरूप भक्ति में पारंगत विद्वान सलाह देते हैं कि मन्दिरों तथा मठों की संख्या बढ़ाने की चेष्टा न की जाये। ऐसे कार्य केवल वे भक्त कर सकते हैं, जो कृष्णभावनामृत आन्दोलन को अग्रसर करने में अनुभवी हैं। दक्षिण भारत के सारे *आचार्यों* ने, विशेषतया श्रीरामानुजाचार्य ने, अनेक बड़े-बड़े मन्दिर बनवाये और उत्तर भारत में वृन्दावन के सभी गोस्वामियों ने बड़े-बड़े मन्दिर बनवाये। श्रील भक्ति सिद्धान्त सरस्वती ने भी गौड़ीय मठ नाम से बड़े-बड़े केन्द्र निर्मित कराये। अतएव मन्दिर निर्माण कराना बुरा नहीं है बशर्ते कि कृष्णभावनामृत के प्रसार के लिए सतर्कता बरती जाये। भले ही ऐसे प्रयास लोभपूर्ण माने जाँय, किन्तु ये यह लोभ कृष्ण को तुष्ट करने के लिए है और सभी आध्यात्मिक कार्य हैं।

असङ्कल्पाज्जयेत्कामं क्रोधं कामविवर्जनात् ।
अर्थानर्थेक्षया लोभं भयं तत्त्वावमर्शनात् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

असङ्कल्पात्—संकल्प से; जयेत्—जीते; कामम्—कामेच्छाओं को; क्रोधम्—क्रोध को; काम-विवर्जनात्—इन्द्रिय इच्छा के विषय को त्याग देने से; अर्थ—धन संग्रह; अनर्थ—दुख का कारण; ईक्षया—मानने से; लोभम्—लोभ को; भयम्—भय को; तत्त्व—सत्य; अवमर्शनात्—विचार करने से।

दृढ़ता-पूर्वक योजनाएँ बनाकर मनुष्य को इन्द्रियतृप्ति की कामपूर्ण इच्छाएँ त्याग देनी चाहिए। इस प्रकार ईर्ष्या त्यागकर क्रोध पर विजय प्राप्त करनी चाहिए, धन संग्रह करने के दोषों पर विचार-विमर्श करके लोभ का परित्याग करना चाहिए और सत्य की विवेचना करके भय का त्याग करना चाहिए।

तात्पर्य : श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने सुझाया है कि किस तरह इन्द्रियतृप्ति के लिए विषयवासनाओं पर विजय प्राप्त की जा सकती है। कोई भी मनुष्य स्त्रियों के विषय में सोचना नहीं छोड़ सकता क्योंकि इस तरह सोचना स्वाभाविक है; सड़क पर चलते हुए भी उसे अनेक स्त्रियाँ दिखेंगी। किन्तु यदि कोई स्त्री के साथ न रहने का संकल्प कर ले तो वह स्त्री को देखकर भी कामुक नहीं होगा। यदि कोई मैथुन न करने का निश्चय कर ले तो वह विषयवासनाओं पर स्वतः विजय पा

लेगा। इस प्रसंग में उदाहरण दिया जाता है कि यदि कोई भूखा भी हो किन्तु यदि वह किसी दिन उपवास करने का संकल्प कर ले तो वह भूख-प्यास की बाधाओं को विजय प्राप्त कर सकेगा। यदि कोई संकल्प कर ले कि वह किसी से ईर्ष्या नहीं करेगा तो वह सहज ही क्रोध पर विजय पा लेगा। इसी प्रकार वह धन संचय करने की इच्छा को त्याग सकता है मात्र यदि वह इतना ही सोच ले कि अपने पास आये धन की रक्षा करना कितना कठिन है। यदि किसी के पास प्रचुर नकद धन रहता है, तो वह उसे ठीक से संभालने के विषय में चिन्तित रहता है। इस तरह यदि कोई धन संचय के अवगुणों की विवेचना करे तो वह स्वभावतः बिना कठिनाई के अपना व्यवसाय छोड़ सकता है।

आन्वीक्षिक्या शोकमोहौ दम्भं महदुपासया ।

योगान्तरायान्मौनेन हिंसां कामाद्यनीहया ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

आन्वीक्षिक्या—भौतिक तथा आध्यात्मिक विषयों में विचार-विमर्श करके; शोक—शोक; मोहौ—तथा मोह; दम्भम्—मिथ्या अभिमान को; महत्—वैष्णव; उपासया—सेवा द्वारा; योग-अन्तरायान्—योग के मार्ग में अवरोधों पर; मौनेन—मौन से; हिंसाम्—ईर्ष्या; काम-आदि—इन्द्रिय तृप्ति के लिए; अनीहया—बिना चेष्टा के।

आध्यात्मिक ज्ञान के विवेचन से शोक तथा मोह पर विजय प्राप्त की जा सकती है, महान् भक्त की सेवा करके अहंकाररहित बना जा सकता है, मौन रह कर योग मार्ग के अवरोधों से बचा जा सकता है और इन्द्रियतृप्ति को रोक देने से ही ईर्ष्या पर विजय पाई जा सकती है।

तात्पर्य : यदि किसी का पुत्र मर गया हो तो शोक तथा मोह से प्रभावित होना और मृत पुत्र के लिए रोना स्वाभाविक है। लेकिन *भगवद्गीता* के निम्नलिखित श्लोकों पर विचार करने से वह शोक तथा मोह पर विजय पा सकता है—

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।

चूँकि आत्मा का देहान्तर होता है अतएव जिसने जन्म लिया है उसे अवश्यमेव यह शरीर छोड़ना और फिर दूसरा शरीर ग्रहण करना होता है। इसके लिए शोक करना व्यर्थ है। अतएव कृष्ण कहते हैं—*धीरस्तत्र न मुह्यति*—जो धीर है, जो दर्शन का विद्वान है और ज्ञानी है, वह आत्मा के देहान्तरण पर कभी दुखी नहीं हुआ करता।

कृपया भूतजं दुःखं दैवं जह्यात्समाधिना ।

आत्मजं योगवीर्येण निद्रां सत्त्विनिषेवया ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

कृपया—अन्य जीवों पर दयालु होने से; भूत-जम्—अन्य जीवों के कारण; दुःखम्—दुख; दैवम्—भाग्य द्वारा प्रदत्त दुख; जह्यात्—त्याग दे; समाधिना—समाधि या ध्यान द्वारा; आत्म-जम्—शरीर तथा मन के कारण दुख; योग-वीर्येण—हठयोग, प्राणायाम इत्यादि के अभ्यास से; निद्राम्—नींद को; सत्त्व-निषेवया—सतो गुण या ब्राह्मण-गुणों का विकास करके।

मनुष्य को चाहिए कि अन्य जीवों के कारण होने वाले दुखों का प्रतिकार अच्छे आचरण (सदाचार) तथा ईर्ष्या से रहित होकर करे, भाग्य द्वारा प्रदत्त कष्टों का सामना समाधि में ध्यान करके करे और शरीर तथा मन से उत्पन्न दुखों का प्रतिकार हठ योग, प्राणायाम आदि के अभ्यास द्वारा करे। इसी प्रकार विशेष रूप से सतो गुण का विकास करके खाने के मामले में, निद्रा पर विजय पाई जाये।

तात्पर्य : मनुष्य को चाहिए कि वह ऐसा भोजन करने का अभ्यास करे जिससे अन्य जीवों को कष्ट न पहुँचे। चूँकि किसी द्वारा चिकोटी काटे जाने या मारे जाने पर मुझे कष्ट होता है इसलिए मुझे भी अन्य जीवों को चिकोटी काटने या उन्हें मारने का प्रयास नहीं करना चाहिए। लोगों को यह पता नहीं रहता कि निर्दोष पशुओं का वध करने के कारण उन्हें प्रकृति के कठोर कर्मफलों को भोगना पड़ेगा। जिस भी देश के लोग अनावश्यक पशु-वध करते हैं उन्हें प्रकृति द्वारा लादे जाने वाले युद्ध तथा महामारी के कष्ट को भोगना पड़ेगा। अतएव अन्यो के कष्ट से अपने कष्टों की तुलना करके मनुष्य को सभी जीवों पर दयालु रहना चाहिए। कोई भाग्य द्वारा थोपे गये कष्टों से बच नहीं सकता अतएव जब कष्ट आ जाये तो मनुष्य को चाहिए कि हरे कृष्ण मंत्र के जाप में पूर्णतया लीन हो जाये। मनुष्य हठ योग के अभ्यास से शरीर तथा मन के कष्टों से बच सकता है।

रजस्तमश्च सत्त्वेन सत्त्वं चोपशमेन च ।

एतत्सर्वं गुरौ भक्त्या पुरुषो ह्यञ्जसा जयेत् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

रजः तमः—रजो तथा तमो गुण; च—तथा; सत्त्वेन—सतो गुण विकसित करने से; सत्त्वम्—सतो गुण; च—भी; उपशमेन—आसक्ति त्यागने से; च—तथा; एतत्—ये; सर्वम्—सभी; गुरौ—गुरु में; भक्त्या—भक्तिपूर्वक सेवा करने से; पुरुषः—पुरुष; हि—निस्सन्देह; अञ्जसा—सरलता से; जयेत्—विजय पा सकता है।

मनुष्य को सतो गुण विकसित करके रजोगुण तथा तमोगुण को जीतना चाहिए और तब शुद्ध सत्त्व के पद तक उठ कर सतो गुण से विरक्त हो लेना चाहिए। यदि कोई श्रद्धा तथा

भक्तिपूर्वक गुरु की सेवा में लगा रहे तो यह सब कुछ स्वतः हो सकता है। इस प्रकार प्रकृति के गुणों के प्रभाव पर विजय पाई जा सकती है।

तात्पर्य : किसी रोग के मूल कारण का उपचार करके शारीरिक वेदनाओं एवं क्लेशों को जीता जा सकता है। इसी प्रकार यदि कोई गुरु के प्रति श्रद्धा तथा भक्ति करे तो वह सतो, रजो तथा तमोगुणों के प्रभाव पर सरलता से विजय पा सकता है। योगी तथा ज्ञानी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने के लिए कई प्रकार से अभ्यास करते हैं, किन्तु गुरु की कृपा से भक्त को तुरन्त ही भगवत्कृपा प्राप्त हो जाती है। *यस्य प्रसादाद्भगवत्प्रसादो*। यदि गुरु अनुकूल हों तो मनुष्य को सहज ही भगवत्कृपा प्राप्त हो जाती है और भगवत्कृपा होने पर वह इस संसार में सतो, रजो तथा तमोगुणों के प्रभावों को जीतकर तुरन्त दिव्य बन जाता है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में की गई है (*स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते*)। यदि कोई गुरु के आदेशों के अनुसार चलने वाला शुद्ध भक्त हो तो उसे सरलता से भगवत्कृपा प्राप्त हो जाती है और वह तुरन्त दिव्य पद पर आरूढ़ होता है। इसकी व्याख्या अगले श्लोक में की गई है।

यस्य साक्षाद्भगवति ज्ञानदीपप्रदे गुरौ ।

मर्त्यासद्धीः श्रुतं तस्य सर्वं कुञ्जरशौचवत् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जो; साक्षात्—प्रत्यक्ष; भगवति—भगवान् में; ज्ञान-दीप-प्रदे—जो ज्ञान रूपी दीप से प्रकाशित करता है; गुरौ—गुरु में; मर्त्य-असत्-धीः—गुरु को सामान्य मनुष्य मानता है और ऐसी प्रतिकूल मनोवृत्ति रखता है; श्रुतम्—वैदिक ज्ञान; तस्य—उसका; सर्वम्—प्रत्येक वस्तु; कुञ्जर-शौच-वत्—झील में हाथी के स्नान के समान।

गुरु को साक्षात् भगवान् मानना चाहिए, क्योंकि वह प्रकाश के लिए दिव्य ज्ञान प्रदान करता है। फलस्वरूप जो यह भौतिक धारणा रखता है कि गुरु सामान्य मनुष्य होता है उसके लिए हर वस्तु निराशाजनक रहती है। उसका प्रकाश, उसका वैदिक अध्ययन तथा ज्ञान झील में हाथी के स्नान के समान होता है।

तात्पर्य : यह संस्तुति की गई है कि मनुष्य गुरु का भगवान् के ही समान पद पर सम्मान करे। *साक्षाद् धरित्वेन समस्तशास्त्रैः*। प्रत्येक शास्त्र का यही आदेश है। *आचार्य मां विजानीयात्*—आचार्य को भगवान् के ही समान मानना चाहिए। इतने उपदेशों के बाद भी यदि कोई गुरु को सामान्य व्यक्ति समझता है, तो उसका विनाश निश्चित है। उसका वेदाध्ययन तथा प्रकाश के लिए उसकी तपस्या सभी व्यर्थ हैं जैसे हाथी का स्नान। हाथी झील में अच्छी तरह स्नान करता है, किन्तु किनारे पर आते ही

धरती से कुछ धूल उठा कर पूरे शरीर पर छिड़क लेता है। इस तरह हाथी के स्नान का कोई अर्थ नहीं रह जाता। कोई यह तर्क कर सकता है कि जब गुरु के सम्बन्धी तथा उसके पड़ोसी उसे सामान्य व्यक्ति मानते हैं, तो इसमें उस शिष्य का कौन सा दोष है, जो गुरु को सामान्य मनुष्य मानता है? इसका उत्तर अगले श्लोक में मिलेगा। किन्तु आदेश यही है कि गुरु को कभी भी सामान्य व्यक्ति न माना जाए। मनुष्य को गुरु के आदेशों का दृढ़ता से पालन करना चाहिए, क्योंकि यदि गुरु प्रसन्न हो गये तो भगवान् भी प्रसन्न हो गए। *यस्य प्रसादाद् भगवत्प्रसादो यस्याप्रसादान् न गतिः कुतोऽपि।*

एष वै भगवान्साक्षात्प्रधानपुरुषेश्वरः ।

योगेश्वरैर्विमृग्याद्घ्निलोको यं मन्यते नरम् ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

एषः—यह; वै—निस्सन्देह; भगवान्—भगवान्; साक्षात्—प्रत्यक्ष; प्रधान—प्रकृति के मुख्य कारण; पुरुष—पुरुषावतार भगवान् विष्णु का या समस्त जीवों का; ईश्वरः—परम नियन्ता; योग-ईश्वरैः—बड़े-बड़े साधु पुरुषों या योगियों द्वारा; विमृग्य-अङ्घ्रिः—भगवान् कृष्ण के चरणकमल, जिनकी खोज की जाती है; लोकः—सामान्य जन; यम्—उसको; मन्यते—मानते हैं; नरम्—मनुष्य।

भगवान् कृष्ण अन्य समस्त जीवों के तथा भौतिक प्रकृति के स्वामी हैं। व्यास जैसे महर्षि उनके चरणकमलों की तलाश करते और उन्हें पूजते हैं। तो भी कुछ ऐसे मूर्ख हैं, जो कृष्ण को सामान्य मनुष्य मानते हैं।

तात्पर्य : गुरु को समझने के प्रसंग में भगवान् कृष्ण के परमेश्वर होने का उदाहरण उपयुक्त है। गुरु सेवक-भगवान् कहलाता है और कृष्ण सेव्य-भगवान् कहलाते हैं जिनकी सेवाकी जानी चाहिए। गुरु पूजक ईश है और भगवान् कृष्ण पूज्य ईश हैं। गुरु और भगवान् में यही अन्तर है।

दूसरी बात—जिस *भगवद्गीता* में भगवान् का उपदेश है, वह बिना किसी हेर-फेर के यथार्थ रूप में गुरु द्वारा प्रस्तुत की जाती है। अतएव परम सत्य गुरु में विद्यमान रहते हैं। श्लोक २६ में *ज्ञानदीपप्रदे* कहा गया है। भगवान् समूचे विश्व को असली ज्ञान देते हैं और उनके प्रतिनिधि रूप में गुरु इस सन्देश को सारे विश्व में ले जाता है। अतएव चरम पद पर गुरु तथा भगवान् में कोई अन्तर नहीं होता। यदि कोई भगवान् कृष्ण या रामचन्द्र को सामान्य व्यक्ति मानता है, तो इसका अर्थ यह नहीं होता कि भगवान् सामान्य व्यक्ति बन गये हैं। इसी प्रकार भगवान् के प्रामाणिक प्रतिनिधि गुरु को यदि उसके परिवार के लोग सामान्य मनुष्य मानते हैं, तो इसका अर्थ यह नहीं होता कि वह सामान्य मनुष्य बन

गया है। गुरु भगवान् के तुल्य है अतएव जो आध्यात्मिक प्रगति करने के गम्भीरता पूर्वक इच्छुक हों उन्हें गुरु को इसी तरह मानना चाहिए। इस समझ में थोड़ा भी हेर-फेर होने से शिष्य के वैदिक अध्ययन तथा तप में विनाश हो सकता है।

षड्वर्गसंयमैकान्ताः सर्वा नियमचोदनाः ।

तदन्ता यदि नो योगानावहेयुः श्रमावहाः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

षट्-वर्ग—छः तत्त्व, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा छठा मन; संयम-एकान्ताः—इन्द्रिय-दमन का चरम लक्ष्य; सर्वाः—ऐसे सारे कार्यकलाप; नियम-चोदनाः—इन्द्रियों तथा मन को वश में करने के लिए अन्य विधान; तत्-अन्ताः—ऐसे कार्यकलापों का चरमलक्ष्य; यदि—यदि; नो—नहीं; योगान्—ब्रह्म के साथ जुड़ने की कड़ी; आवहेयुः—ले जाती है; श्रम-आवहाः—समय तथा श्रम का अपव्यय।

अनुष्ठान (कर्मकाण्ड), विधि-विधान, तपस्या तथा योगाभ्यास—ये सभी इन्द्रियों तथा मन को वश में करने के लिए हैं, किन्तु इन्द्रियों तथा मन को वश में कर लेने के बाद भी यदि वह भगवान् का ध्यान नहीं करता तो ये सारे कार्यकलाप श्रम के अपव्यय मात्र हैं।

तात्पर्य : कोई यह तर्क कर सकता है कि योगाभ्यास से तथा वैदिक नियमों के अनुसार कर्मकाण्ड करने से गुरु की एकान्त भक्ति किये बिना ही मनुष्य को जीवन के चरम लक्ष्य—परमात्मा—की अनुभूति प्राप्त हो सकती है। किन्तु वास्तविकता तो यह है कि योगाभ्यास से मनुष्य को भगवान् के चिन्तन पद तक पहुँचना चाहिए। जैसाकि शास्त्रों में कहा गया है—*ध्यानावस्थित तद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनः*—ध्यान में लीन मनुष्य योगाभ्यास में सिद्धि प्राप्त करता है तब उसे भगवान् के दर्शन होते हैं। मनुष्य अनेक प्रकार के अभ्यासों से इन्द्रियों को वश में करने की स्थिति में पहुँच सकता है किन्तु इन्द्रियों को वश में करने मात्र से ही कोई ठोस निष्कर्ष को प्राप्त नहीं होता। किन्तु गुरु तथा भगवान् में एकान्त श्रद्धा होने से मनुष्य न केवल इन्द्रियों को वश में करता है, अपितु भगवान् की अनुभूति भी कर लेता है—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।

तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥

“जो लोग भगवान् तथा गुरु दोनों पर निर्विवाद श्रद्धा रखते हैं उन्हीं महात्माओं को वैदिक ज्ञान का आशय स्वतः प्रकट होता है।” (*श्वेताश्वतर उपनिषद् ६.२३*) आगे भी कहा गया है—*तुष्येयं*

सर्वभूतात्मा गुरुशुश्रूषया तथा तरन्त्यञ्जो भवार्णवम्। गुरु की सेवा करने मात्र से ही अज्ञान के सागर को पार करके भगवद्धाम को लौटा जा सकता है। तब उसे क्रमशः भगवान् के साक्षात् दर्शन होते हैं और वह भगवान् की संगति में जीवन का भोग कर सकता है। योग का चरम लक्ष्य भगवान् के सम्पर्क में आना है। जब तक इसकी प्राप्ति न हो तब तक तथाकथित योगाभ्यास व्यर्थ का श्रम है।

यथा वार्तादयो ह्यर्था योगस्यार्थं न बिभ्रति ।

अनर्थाय भवेयुः स्म पूर्तमिष्टं तथासतः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; वार्ता-आदयः—वृत्तिपरक कर्तव्य आदि कार्यकलाप; हि—निश्चय ही; अर्थाः—आय (ऐसे वृत्तिपरक कार्यों से); योगस्य—आत्म-साक्षात्कार के लिए योग का; अर्थम्—लाभ; न—नहीं; बिभ्रति—सहायता करते हैं; अनर्थाय—अर्थहीन (जन्म-मरण के चक्र में बाँधते हुए); भवेयुः—वे हैं; स्म—सभी काल में; पूर्तम् इष्टम्—वैदिक कर्मकाण्ड; तथा—उसी तरह; असतः—अभक्त का।

जिस तरह वृत्तिपरक कार्यकलाप या व्यापार के लाभ किसी की आध्यात्मिक उन्नति में सहायक नहीं बन सकते, अपितु वे भौतिक बन्धन के कारण बन जाते हैं उसी तरह वैदिक कर्मकाण्ड ऐसे किसी व्यक्ति की सहायता नहीं कर सकते जो भगवान् का भक्त नहीं है।

तात्पर्य : यदि कोई अपने वृत्तिपरक कार्यकलापों से, व्यापार से या कृषि के द्वारा अत्यन्त धनी बन जाता है, तो इसका अर्थ यह नहीं होता कि वह आध्यात्मिक दृष्टि से बढ़ा-चढ़ा है। आध्यात्मिक उन्नत होना भौतिक दृष्टि से समृद्ध होने से भिन्न है। यद्यपि जीवन का उद्देश्य आध्यात्मिक दृष्टि से सम्पन्न होना है, तो भी पथभ्रष्ट होने के कारण अभागे लोग सदैव भौतिक दृष्टि से धनी बनने के प्रयास में लगे रहते हैं, किन्तु ऐसे भौतिक व्यापारों से मनुष्य-जीवन के उद्देश्य की वास्तविक पूर्ति में कोई सहायता नहीं मिलती। उलटे, भौतिक व्यापारों से मनुष्य व्यर्थ की आवश्यकताओं के प्रति आकृष्ट होता रहता है, जिसके साथ यह खतरा लगा रहता है कि उसे कहीं निम्न योनि में जन्म न लेना पड़े। जैसी कि भगवद्गीता (१४.१८) में पुष्टि हुई है—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।

जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥

“जो सतोगुणी होते हैं, वे धीरे धीरे उच्च लोकों को जाते हैं, जो रजोगुणी हैं, वे पृथ्वी लोक में रह जाते हैं और जो तमोगुणी हैं, वे नरक लोकों को जाते हैं।” विशेष रूप से इस कलियुग में भौतिक

उन्नति का अर्थ है पतन और निम्न प्रवृत्ति उत्पन्न करने वाली अनावश्यक वस्तुओं के प्रति आकर्षण। अतएव जघन्यगुणवृत्तिस्था—चूँकि लोग निम्न गुणों से कुलपित रहते हैं, अतएव वे अगले जन्मों में या तो पशु या अन्य कोई निम्न योनि में जीवन बिताएँगे। कृष्णभावनामृत के बिना धर्म का दिखावा भले ही अज्ञानी पुरुषों की दृष्टि में किसी को लोकप्रिय बना दे, किन्तु वास्तव में आध्यात्मिक उन्नति का ऐसा स्वाँग किसी को लाभ नहीं पहुँचाता; यह किसी को जीवन लक्ष्य को चूकने से नहीं रोकेगा।

यश्चित्तविजये यत्तः स्यान्निःसङ्गोऽपरिग्रहः ।

एको विविक्तशरणो भिक्षुर्भक्ष्यमिताशनः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

यः—जो; चित्त-विजये—मन को जीतकर; यत्तः—लगा रहता है; स्यात्—हो; निःसङ्गः—दूषित संगति से रहित; अपरिग्रहः—आश्रित न रहकर (परिवार पर); एकः—अकेले; विविक्त-शरणः—एकान्त स्थान की शरण लेकर; भिक्षुः—संन्यासी; भक्ष्य—केवल शरीर पालन के लिए भीख माँग कर; मित-अशनः—कम खाने वाला।

जो मन पर विजय पाने का इच्छुक हो उसे अपने परिवार का साथ छोड़ते हुए दूषित संगित से मुक्त एकान्त स्थान में रहना चाहिए। अपने शरीर-पोषण के लिए उसे उतना ही माँगना चाहिए जितने से जीवन की न्यूनतम आवश्यकताएँ पूरी हो जायँ।

तात्पर्य : मन की चंचलता को जीतने की यही विधि है। मनुष्य को सलाह दी जाती है कि वह अपना परिवार त्याग कर अकेले रहे और भीख माँग कर जीवन निर्वाह करे तथा उतना ही भोजन करे जितने से वह जीवित रहा जा सके। ऐसी विधि के बिना कामेच्छाओं पर विजय नहीं पाई जा सकती। संन्यास का अर्थ है भिक्षा वृत्ति स्वीकार करना जिससे मनुष्य स्वतः विनम्र तथा कामेच्छा से मुक्त हो जाता है। इस प्रसंग में स्मृति का निम्नलिखित श्लोक द्रष्टव्य है—

द्वन्द्वाहतस्य गार्हस्थ्यं ध्यानभङ्गादिकारणम् ।

लक्षयित्वा गृही स्पष्टं संन्यसेद् अविचारयन् ॥

द्वन्द्वयुक्त इस जगत में पारिवारिक जीवन ही वह कारण है, जिससे मनुष्य का आध्यात्मिक जीवन या ध्यान नष्ट होता है। इस तथ्य को विशेष तौर पर समझते हुए मनुष्य को निःसंकोच संन्यास आश्रम स्वीकार करना चाहिए।

देशे शुचौ समे राजन्संस्थाप्यासनमात्मनः ।

स्थिरं सुखं समं तस्मिन्नासीतर्ज्वङ्ग ओमिति ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

देशे—स्थान पर; शुचौ—अत्यन्त पवित्र; समे—समतल; राजन्—हे राजा; संस्थाप्य—रखकर; आसनम्—आसन पर; आत्मनः—स्वयं को; स्थिरम्—अत्यन्त स्थिर; सुखम्—सुखपूर्वक; समम्—समतल; तस्मिन्—उस आसन पर; आसीत्—बैठ जाये; ऋजु-अङ्गः—शरीर को सीधा करके; ॐ—वैदिक मंत्र प्रणव; इति—इस प्रकार।

हे राजा, योग सम्पन्न करने के लिए पवित्र तथा पुण्य तीर्थस्थल में किसी एक स्थान को चुने। यह स्थान समतल हो—न तो अधिक ऊँचा और न नीचा। तब वहाँ सुखपूर्वक स्थिर तथा समभाव से बैठकर शरीर को सीधा रखकर वैदिक प्रणव का उच्चारण प्रारम्भ करे।

तात्पर्य : सामान्यतया ॐ जप की संस्तुति की जाती है, क्योंकि प्रारम्भ में भगवान् को समझना कठिन होता है। जैसाकि श्रीमद्भागवत (१.२.११) में कहा गया है—

वदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।

ब्रह्मेति परमात्मेति भगवान् इति शब्दते ॥

“जो विद्वान् अध्यात्मवादी परम सत्य को जानते हैं, वे इस अद्वैत वस्तु को ब्रह्म, परमात्मा या भगवान् कहकर पुकारते हैं।” जब तक कोई भगवान् के विषय में पूर्णतः आश्वस्त नहीं हो जाता, उसके अपने हृदय के भीतर परमात्मा को ढूँढ़ते हुए निर्विशेष योगी बननेकी सम्भावना होती है (ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनः)। यहाँ पर ओङ्कार जप की संस्तुति की गई है, क्योंकि दिव्य अनुभूति के प्रारम्भ में हरे कृष्ण महामंत्र का जाप न करके मनुष्य ओङ्कार (प्रणव) का जाप कर सकता है। हरे कृष्ण महामंत्र तथा ओङ्कार में कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि दोनों ही भगवान् की ध्वनि-अभिव्यक्तियाँ हैं। प्रणवः सर्ववेदेषु। समस्त वैदिक वाङ्मय में ओङ्कार ध्वनि ही शुभारम्भ है (ॐ नमो भगवते वासुदेवाय)। ओङ्कार के जप तथा हरे कृष्ण मंत्र के जप में यही अन्तर है कि हरे कृष्ण मंत्र का जप स्थान या आसन का विचार किये बिना किया जा सकता है, जिसकी संस्तुति भगवद्गीता (६.११) में की गई है—

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।

नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥

“योगाभ्यास के लिए मनुष्य को एकान्त स्थान में जाना चाहिए और भूमि पर कुश बिछाकर उसके ऊपर मृगचर्म तथा मुलायम कपड़ा डाल देना चाहिए। आसन न तो अधिक ऊँचा हो न अधिक नीचा।

इसे पवित्र स्थान में होना चाहिए।” हरे कृष्ण मंत्र को कोई भी व्यक्ति स्थान या आसन का विचार किये बिना जप सकता है। श्री चैतन्य महाप्रभु ने स्पष्ट कहा है— *नियमितः स्मरणे न कालः*। हरे कृष्ण महामंत्र के जप करने के लिए आसन के विषय में कोई विशिष्ट आदेश नहीं है। *नियमतः स्मरणे न कालः* नामक आदेश में देश, काल तथा पात्र सभी समाविष्ट हैं। अतएव कोई भी व्यक्ति देश तथा काल का ध्यान रखे बिना हरे कृष्ण मंत्र का जप कर सकता है। विशेषतया इस कलियुग में *भगवद्गीता* द्वारा संस्तुत उपयुक्त स्थान खोज पाना कठिन है। किन्तु हरे कृष्ण महामंत्र का जप किसी भी स्थान में और किसी भी समय किया जा सकता है और इससे तुरन्त ही फल मिलता है। फिर भी हरे कृष्ण मंत्र का जप करते हुए विधि-विधानों का पालन किया जा सकता है। अतः जप के समय शरीर को सीधा रखा जाये। इससे जापक को सहायता मिलेगी अन्यथा उसे नींद आ सकती है।

प्राणापानौ सन्निरुन्ध्यात्पूरकुम्भकरेचकैः ।

यावन्मनस्त्यजेत्कामान्स्वनासाग्रनिरीक्षणः ॥ ३२ ॥

यतो यतो निःसरति मनः कामहतं भ्रमत् ।

ततस्तत उपाहृत्य हृदि रुन्ध्याच्छनैर्बुधः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

प्राण—भीतर जाने वाली श्वास; अपानौ—बाहर निकलने वाली श्वास; सन्निरुन्ध्यात्—रोके रहे; पूर-कुम्भक-रेचकैः—श्वास भीतर खींचना, बाहर निकालना तथा रोकना, इन तीनों को क्रमशः पूरक, कुम्भक तथा रेचक कहा जाता है; यावत्—जब तक; मनः—मन; त्यजेत्—छोड़ दे; कामान्—सारी भौतिक इच्छाएँ; स्व—अपनी; नास-अग्र—नाक का अग्रभाग; निरीक्षणः—देखना; यतः यतः—जहाँ कहीं से जे कुछ; निःसरति—निकलती है; मनः—मन; काम-हतम्—कामेच्छाओं से पराजित होकर; भ्रमत्—धूमते हुए; ततः ततः—यहाँ-वहाँ से; उपाहृत्य—वापस लाकर; हृदि—हृदय के भीतर; रुन्ध्यात्—रोके (मन को); शनैः—अभ्यास से, धीरे-धीरे; बुधः—विद्वान योगी।

विद्वान योगी अपनी नाक के अग्रभाग पर निरन्तर दृष्टि लगाकर पूरक, कुम्भक तथा रेचक नामक श्वास लेने के आसन का—अर्थात् वह श्वास भीतर ले जाने, बाहर निकालने और फिर दोनों को रोक देने का—अभ्यास करता है। इस प्रकार योगी अपने मन को भौतिक आसक्तियों से रोकता है और सारी मानसिक इच्छाएँ त्याग देता है। ज्योंही मन कामेच्छाओं के वशीभूत होकर इन्द्रियतृप्ति की भावनाओं की ओर हटे त्योंही योगी को उसे तुरन्त वापस लाकर हृदय के भीतर बाँध लेना चाहिए।

तात्पर्य : यहाँ पर योगाभ्यास का संक्षिप्त वर्णन हुआ है। जब यह योगाभ्यास परिपूर्ण होता है, तो योगी को अपने हृदय के भीतर परमात्मा के दर्शन होते हैं। किन्तु *भगवद्गीता* (६.४७) में भगवान् कहते हैं—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।

श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥

“योगियों में से जो योगी अत्यन्त श्रद्धापूर्वक मुझमें सदैव वास करता है और दिव्य प्रेमाभक्ति से मेरी पूजा करता है, वह योग में मुझसे घनिष्ठतापूर्वक बँध जाता है और वह सर्वश्रेष्ठ है।” भक्त तुरन्त ही सिद्ध योगी बन सकता है क्योंकि वह अपने हृदय में सदैव कृष्ण को धारण करते हुए अभ्यास करता है। योगाभ्यास की यह अन्य विधि है। भगवान् कहते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।

“सदैव मेरा चिन्तन करो और मेरे भक्त बन जाओ। मेरी पूजा करो और मुझे ही नमस्कार करो।” (*भगवद्गीता* १८.६५) यदि कोई कृष्ण को सदा अपने हृदय में धारण करके (*मद्भक्तः*) भक्ति करता है, तो वह तुरन्त उच्चकोटि का योगी बन जाता है। दूसरे, कृष्ण को मन के भीतर रखना भक्त के लिए कोई कठिन कार्य नहीं। देहात्मबुद्धि के सामान्य मनुष्य के लिए तो योगाभ्यास सहायक सिद्ध हो सकता है, किन्तु जो तुरन्त ही भक्ति करने लगता है, वह बिना किसी कठिनाई के तुरन्त पूर्ण योगी बन जाता है।

एवमभ्यस्यतश्चित्तं कालेनाल्पीयसा यतेः ।

अनिशं तस्य निर्वाणं यात्यनिन्धनवह्निवत् ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार से; अभ्यस्यतः—इस योग पद्धति का अभ्यास करने वाले व्यक्ति का; चित्तम्—हृदय; कालेन—कालान्तर में; अल्पीयसा—तुरन्त ही; यतेः—योगाभ्यासी व्यक्ति का; अनिशम्—बिना रुके, निरन्तर; तस्य—उसका; निर्वाणम्—समस्त कल्मष से शुद्धि; याति—प्राप्त करता है; अनिन्धन—बिना लपट या धुँआ के; वह्निवत्—आग के समान।

जब योगी इस तरह नियमित रूप से अभ्यास करता है, तो अल्प काल में उसका हृदय स्थिर हो जाता है और विचलित नहीं होता जिस प्रकार लपट या धूम से रहित अग्नि स्थिर हो जाती है।

तात्पर्य : *निर्वाण* का अर्थ है समस्त भौतिक इच्छाओं का अन्त। कभी-कभी इच्छारहित होना मन की क्रियाशीलता की समाप्ति का द्योतक होता है, किन्तु ऐसा सम्भव नहीं है। जीव के इन्द्रियाँ होती हैं

और यदि ये इन्द्रियाँ कार्य करना बन्द कर दें तो जीव जीव न रहे, वह जड़ हो जाये—पत्थर या काठ की तरह। ऐसा सम्भव नहीं है। जीवित रहने के कारण जीव *नित्य* तथा *चेतन* है। जो लोग बहुत बड़े-चढ़े नहीं हैं उन्हें भौतिक इच्छाओं द्वारा मन को विचलित होने से रोकने के लिए योगाभ्यास करने के लिए कहा जाता है, किन्तु यदि कोई अपने मन को कृष्ण के चरणकमलों पर स्थिर कर लेता है, तो उसका मन सहज ही शान्त हो जाता है। इस शान्ति का वर्णन *भगवद्गीता* (५.२९) में हुआ है—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥

यदि कोई यह समझ सके कि कृष्ण परम भोक्ता, हर वस्तु के परम स्वामी तथा सबों के परम मित्र हैं, तो उसे शान्ति प्राप्त होती है और वह भौतिक क्षोभ से मुक्त हो जाता है। किन्तु जो भगवान् को नहीं समझ सकता है उसके लिए योगाभ्यास करने की संस्तुति की जाती है।

कामादिभिरनाविद्धं प्रशान्ताखिलवृत्ति यत् ।

चित्तं ब्रह्मसुखस्पृष्टं नैवोत्तिष्ठेत कर्हिचित् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

काम-आदिभिः—विभिन्न कामेच्छाओं से; अनाविद्धम्—अप्रभावित; प्रशान्त—शान्त; अखिल-वृत्ति—हर तरह से अथवा सारे कार्यों में; यत्—जो; चित्तम्—चेतना; ब्रह्म-सुख-स्पृष्टम्—शाश्वत आनन्द के दिव्य पद पर स्थित; न—नहीं; एव—निस्सन्देह; उत्तिष्ठेत—बाहर आ सकता है; कर्हिचित्—किसी समय।

जब मनुष्य की चेतना भौतिक कामेच्छाओं से अदूषित होती है, तो वह सभी कार्यों में शान्त हो जाती है, क्योंकि मनुष्य नित्य आनन्दमय जीवन को प्राप्त होता है। एक बार इस पद पर स्थित हो जाने पर मनुष्य फिर भौतिक कार्यकलापों की ओर वापस नहीं जाता।

तात्पर्य : ब्रह्मसुखस्पृष्टम् का वर्णन *भगवद्गीता* में भी (१८.५४) हुआ है—

ब्रह्मभूत प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।

समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥

“जो दिव्य पद पर स्थिर है उसे तुरन्त परब्रह्म की अनुभूति हो जाती है और वह पूरी तरह प्रसन्न हो जाता है। वह न तो शोच करता है व कभी किसी वस्तु की इच्छा करता है; वह प्रत्येक जीव के प्रति समभाव रखता है। इस स्थिति में वह दिव्य कार्यकलाप या भगवद्भक्ति प्रारम्भ करता है।” सामान्यतया एक बार *ब्रह्मसुख* को प्राप्त मनुष्य फिर कभी नीचे नहीं आता। किन्तु यदि कोई भक्ति नहीं करता तो

भौतिक जगत में वापस आने की सम्भावना बनी रहती है। *आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनाहत युष्मदङ्घ्रयः*—मनुष्य *ब्रह्मसुख* पद तक ऊपर जा सकता है, किन्तु वह वहाँ से भी भौतिक जगत में गिर सकता है यदि वह अपने को भक्ति में नहीं लगाता।

यः प्रव्रज्य गृहात्पूर्वं त्रिवर्गावपनात्पुनः ।

यदि सेवेत तान्भिक्षुः स वै वान्ताश्यपत्रपः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; प्रव्रज्य—वन जाकर (दिव्य सुख में स्थिर होकर); गृहात्—घर से; पूर्वम्—सर्वप्रथम; त्रि-वर्ग—धर्म, अर्थ तथा काम, ये तीन सिद्धान्त; आवपनात्—बोये गये खेत में से; पुनः—फिर; यदि—यदि; सेवेत—स्वीकार करना चाहिए; तान्—भौतिकतावादी कार्यकलापों को; भिक्षुः—संन्यासी; सः—वह पुरुष; वै—निस्सन्देह; वान्त-आशी—वमन करके खाने वाला; अपत्रपः—लज्जारहित, निर्लज्ज।

जो संन्यास आश्रम स्वीकार करता है, वह धर्म, अर्थ तथा काम इन तीन भौतिकतावादी कार्यकलापों के सिद्धान्तों को छोड़ देता है, जिनमें मनुष्य गृहस्थ जीवन में लिप्त रहता है। जो व्यक्ति पहले संन्यास स्वीकार करता है, किन्तु बाद में ऐसी भौतिकतावादी क्रियाओं में लौट आता है, वह वान्ताशी अर्थात् अपनी ही वमन को खाने वाला कहलाता है। निस्सन्देह, वह निर्लज्ज व्यक्ति है।

तात्पर्य : सारे भौतिकतावादी कार्यकलापों का नियमन वर्णाश्रम धर्म संस्थान द्वारा होता है। वर्णाश्रम धर्म के बिना सारे भौतिकतावादी कार्यकलाप पशु-जीवन की सृष्टि करते हैं। मनुष्य-जीवन में वर्ण तथा आश्रम—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास—के नियमों का पालन करते हुए मनुष्य को अन्ततोगत्वा संन्यास स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि संन्यास आश्रम में ही मनुष्य *ब्रह्मसुख* में स्थित हो सकता है। ब्रह्मसुख में मनुष्य कामेच्छाओं से आकृष्ट नहीं होता। जब कोई मैथुन की कामेच्छा से विचलित नहीं होता तो वह संन्यासी बनने के लिए उपयुक्त है, अन्यथा संन्यास ग्रहण नहीं करना चाहिए। यदि कोई *अपरिपक्व* अवस्था में संन्यास ग्रहण करे तो सम्भावना रहती है कि वह स्त्रियों से तथा कामेच्छाओं से आकर्षित हो जाए और पुनः तथाकथित गृहस्थ बन जाये। ऐसा व्यक्ति अत्यन्त निर्लज्ज होता है और *वान्ताशी* कहलाता है—ऐसा व्यक्ति जो उगले हुए को खाता है। वह निश्चय ही निन्दनीय जीवन बिताता है। अतएव हमारे कृष्णभावनामृत आन्दोलन में यह सलाह दी

जाती है कि संन्यासी तथा ब्रह्मचारी स्त्री-संगति से दूर रहें जिससे कामेच्छाओं का शिकार होकर पतित होने की सम्भावना न रह जाये।

यैः स्वदेहः स्मृतोऽनात्मा मर्त्यो विट्कृमिभस्मवत् ।

त एनमात्मसात्कृत्वा श्लाघयन्ति ह्यसत्तमाः ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

यैः—जिन संन्यासियों द्वारा; स्व-देहः—अपना शरीर; स्मृतः—मानते हैं; अनात्मा—आत्मा से भिन्न; मर्त्यः—मृत्यु से प्रभावित; विट्—मल या विष्ठा बन कर; कृमि—कीड़े-मकोड़े; भस्म-वत्—या राख के सदृश; ते—ऐसे लोग; एनम्—इस शरीर को; आत्मसात् कृत्वा—फिर से अपने साथ पहचान करके; श्लाघयन्ति—अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कह कर महिमा गाते हैं; हि—निस्सन्देह; असत्-तमाः—सबसे बड़े धूर्त।

जो संन्यासी पहले यह समझते हैं कि शरीर मर्त्य है और यह विष्ठा, कृमि या राख में परिणत हो जाएगा किन्तु जो पुनः शरीर को महत्त्व प्रदान करते हैं तथा आत्मा कहकर उसका गुणगान करते हैं उन्हें सबसे बड़ा धूर्त मानना चाहिए।

तात्पर्य : संन्यासी वह होता है, जो ज्ञान में उन्नति करके यह भलीभाँति समझ चुका है कि ब्रह्म स्वयं आत्मा है, शरीर नहीं। जिसे यह समझ है, वह संन्यास ग्रहण कर सकता है, क्योंकि वह अहं ब्रह्मास्मि पद पर स्थित होता है। ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति। जो व्यक्ति न तो शोच करता है न अपने शरीर के पालन करने की लालसा करता है, किन्तु सभी जीवों को आत्मा के रूप में स्वीकार कर सकता है, वह भगवान् की भक्ति कर सकता है। यदि वह भगवद्भक्ति में प्रवेश नहीं करता, अपितु यह समझे बिना कि आत्मा तथा शरीर भिन्न हैं बनावटी तौर पर अपने को ब्रह्म या नारायण मानता है, तो वह निश्चित रूप से नीचे गिरता है (पतन्त्यधः)। ऐसा व्यक्ति फिर से शरीर को महत्त्व प्रदान करता है। भारत में ऐसे अनेक संन्यासी हैं, जो शरीर को महत्त्व प्रदान करते हैं और उन में से कुछ निर्धन मनुष्य के शरीर को विशेष महत्त्व देते हुए उसे दरिद्र नारायण के रूप में स्वीकार करते हैं मानो नारायण के भौतिक शरीर होता हो। अन्य अनेक संन्यासी शरीर की सामाजिक स्थिति के महत्त्व पर बल देते हैं—यथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र। ऐसे संन्यासी सबसे बड़े धूर्त (असत्तमाः) समझे जाते हैं। वे निर्लज्ज हैं, क्योंकि उन्हें अभी तक शरीर तथा आत्मा का अन्तर ज्ञात नहीं हो पाया है और उल्टे वे ब्राह्मण के शरीर को ही ब्राह्मण मानते हैं। ब्राह्मणत्व ब्रह्म के ज्ञान में निहित है। ब्राह्मण का शरीर ब्रह्म नहीं है। इसी प्रकार शरीर न तो धनी होता है न दरिद्र। यदि दरिद्र का शरीर दरिद्र नारायण

होता तो फिर धनाढ्य व्यक्ति का शरीर *धनी नारायण* कहलाता। अतएव जो संन्यासी नारायण का अर्थ नहीं जानते, जो शरीर को ब्रह्म या नारायण मानते हैं, वे यहाँ पर अत्यन्त घृणित धूर्तों के रूप में (*असत्तमाः*) वर्णित किए गये हैं। देहात्मबुद्धि के वशीभूत हुए ऐसे संन्यासी शरीर की सेवा करने के विविध कार्यक्रम बनाते हैं। वे तथाकथित धार्मिक कृत्यों की हास्यास्पद संस्थाओं का संचालन करके जनता को गुमराह करते हैं। यहाँ पर ऐसे संन्यासियों को *अपत्रपः* तथा *असत्तमाः* अर्थात् निर्लज्ज तथा आध्यात्मिक जीवन से पतित कहा गया है।

गृहस्थस्य क्रियात्यागो व्रतत्यागो वटोरपि ।

तपस्विनो ग्रामसेवा भिक्षोरिन्द्रियलोलता ॥ ३८ ॥

आश्रमापसदा ह्येते खल्वाश्रमविडम्बनाः ।

देवमायाविमूढांस्तानुपेक्षेतानुकम्पया ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

गृहस्थस्य—गृहस्थ जीवन में स्थित व्यक्ति का; क्रिया-त्यागः—गृहस्थ के कर्तव्य को छोड़ना; व्रत-त्यागः—व्रतों तथा तपस्या का त्याग; वटोः—ब्रह्मचारी के लिए; अपि—भी; तपस्विनः—वानप्रस्थ के लिए, वह जिसने तप युक्त जीवन स्वीकार किया है; ग्राम-सेवा—गाँव में रहकर लोगों की सेवा करना; भिक्षोः—भीख माँग कर रहने वाले संन्यासी के लिए; इन्द्रिय-लोलता—इन्द्रियभोग में अनुरक्ति; आश्रम—आश्रम का; अपसदाः—अत्यन्त गर्हित; हि—निस्सन्देह; एते—ये सब; खलु—निस्सन्देह; आश्रम-विडम्बनाः—विभिन्न आश्रमों का अनुसरण करते और धोखा देते; देव-माया-विमूढान्—भगवान् की बहिरंगा शक्ति के द्वारा मोहग्रस्तों को; तान्—उन; उपेक्षेत—उपेक्षा करे और प्रमाणित न माने; अनुकम्पया—अथवा दया द्वारा (उन्हें असली जीवन की शिक्षा दे)।

गृहस्थ आश्रम में रहने वाले व्यक्ति के लिए विधि-विधानों का परित्याग करना, गुरु के संरक्षण में रहते हुए ब्रह्मचारी के लिए ब्रह्मचर्य व्रत का पालन न करना, वानप्रस्थ के लिए गाँव में रहना और तथाकथित सामाजिक कार्यों में व्यस्त रहना अथवा संन्यासी के लिए इन्द्रियतृप्ति में अनुरक्त रहना निन्दनीय हैं। जो ऐसा करता है, वह अत्यन्त निम्न श्रेणी का माना जाता है। ऐसा दिखावटी व्यक्ति भगवान् की बहिरंगा शक्ति द्वारा मोहग्रस्त रहता है। मनुष्य को चाहिए कि वह ऐसे व्यक्ति को किसी भी पद से निकाल दे या हो सके तो उस पर दया करके उसे शिक्षा दे जिससे वह अपने मूल पद पर वापस चला जाए।

तात्पर्य : हमने बारम्बार जोर देकर यह बात कही है कि मानव संस्कृति तब तक प्रारम्भ नहीं होगी जब तक मनुष्य *वर्णाश्रम धर्म* के सिद्धान्तों को ग्रहण नहीं करता। यद्यपि गृहस्थ जीवन में विषय-भोग के लिए छूट है, किन्तु कोई भी व्यक्ति गृहस्थ जीवन के विधि-विधानों का पालन किये बिना यौन

सुख नहीं उठा सकता। इसी तरह ब्रह्मचारी को गुरु के संरक्षण में रहना चाहिए— ब्रह्मचारी गुरुकुले वसन् दान्तो गुरोर्हितम्। यदि ब्रह्मचारी अपने गुरु के संरक्षण में नहीं रहता यदि वानप्रस्थी सामान्य कार्यों में लगता है या संन्यासी लालची होता है और जीभ के स्वाद के लिए मांस, अण्डा तथा व्यर्थ की सभी वस्तुएँ खाता है, तो वह वञ्चक है और तुरन्त ही उसे महत्त्वहीन समझ कर त्याग देना चाहिए। ऐसे व्यक्तियों पर अनुकम्पा की जानी चाहिए और यदि किसी में पर्याप्त बल हो तो ऐसे व्यक्तियों को जीवन के गलत मार्ग पर चलने से रोकना चाहिए। अन्यथा उनका बहिष्कार करके और उन पर कोई ध्यान नहीं देना चाहिए।

आत्मानं चेद्विजानीयात्परं ज्ञानधुताशयः ।

किमिच्छन्कस्य वा हेतोर्देहं पुष्पाति लम्पटः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

आत्मानम्—आत्मा तथा परमात्मा को; चेत्—यदि; विजानीयात्—समझ सकता है; परम्—दिव्य, इस जगत से परे; ज्ञान—ज्ञान से; धुत-आशयः—जिसने अपनी चेतना विमल कर ली है; किम्—क्या; इच्छन्—भौतिक सुविधाओं की इच्छा करते हुए; कस्य—किसके लिए; वा—अथवा; हेतोः—किस कारण से; देहम्—भौतिक शरीर को; पुष्पाति—पालन-पोषण करता है; लम्पटः—अवैध रूप से इन्द्रियतृप्ति में अनुरक्त रहकर।

मनुष्य का शरीर आत्मा तथा परमात्मा को जानने के निमित्त होता है और ये दोनों आध्यात्मिक पद पर स्थित हैं। यदि उच्च ज्ञान से परिष्कृत हुए व्यक्ति द्वारा इन दोनों को जाना जा सकता है, तो फिर मूर्ख तथा लालची व्यक्ति किसके लिए और किस कारण से इस शरीर का पालन इन्द्रियतृप्ति के लिए करता है?

तात्पर्य : निस्सन्देह, इस जगत में प्रत्येक व्यक्ति इन्द्रियतृप्ति के लिए शरीर का पालनपोषण करने में रुचि रखता है, किन्तु ज्ञान के अनुशीलन से मनुष्य धीरे-धीरे यह जान लेना चाहिए कि शरीर आत्मा नहीं है। आत्मा तथा परमात्मा दोनों ही भौतिक जगत से परे हैं। इसे मनुष्य जीवन में, विशेष रूप से जब कोई संन्यास ग्रहण करता है, समझ लेना चाहिए। जिस संन्यासी ने आत्मा को समझ लिया है उसे आत्मा को ऊपर उठाने तथा परमात्मा की संगति करने में लगना चाहिए। हमारा कृष्णभावनामृत आन्दोलन जीव को ऊपर उठाकर भगवद्धाम वापस ले जाने के निमित्त है। ऐसे उत्थान के लिए प्रयास करना मनुष्य जीवन का कर्तव्य है। जब कोई अपना यह कर्तव्य पूरा नहीं करता, तो वह शरीर का पालन क्यों करे? विशेष रूप से जब संन्यासी न केवल साधारण उपायों द्वारा शरीर पालन की चेष्टा

करता है, अपितु मांसाहार तथा अन्य गर्हित वस्तुओं के द्वारा शरीर का पालन करता है, तो वह लम्पट होता है—ऐसा लालची व्यक्ति जो इन्द्रियतृप्ति मात्र में लगा रहता है। संन्यासी को जीभ, पेट तथा प्रजनन इन्द्रियों की सारी प्रेरणाओं से विलग हो जाना चाहिए, क्योंकि ये तब तक विचलित करती हैं जब तक वह यह नहीं जान लेता कि शरीर आत्मा से भिन्न है।

आहुः शरीरं रथमिन्द्रियाणि

हयानभीषून्मन इन्द्रियेशम् ।

वर्तमानि मात्रा धिषणां च सूतं

सत्त्वं बृहद्वन्धुरमीशसृष्टम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

आहुः—कहा गया है; शरीरम्—शरीर को; रथम्—रथ; इन्द्रियाणि—इन्द्रियों को; हयान्—घोड़े; अभीषून्—लगाम; मनः—मन; इन्द्रिय—इन्द्रियों का; ईशम्—स्वामी; वर्तमानि—लक्ष्य; मात्राः—इन्द्रियविषय; धिषणाम्—बुद्धि को; च—तथा; सूतम्—सारथी, रथ हाँकने वाला; सत्त्वम्—चेतना को; बृहत्—महान; बन्धुरम्—बन्धन; ईश—परमेश्वर द्वारा; सृष्टम्—रचा गया।

ज्ञान में बढ़े-चढ़े अध्यात्मवादी भगवान् के आदेश से बने शरीर की तुलना रथ से करते हैं; इन्द्रियाँ घोड़ों के तुल्य हैं; इन्द्रियों का स्वामी मन लगाम सदृश है, इन्द्रियविषय गन्तव्य हैं, बुद्धि सारथी है और सारे शरीर में व्याप्त चेतना इस भौतिक जगत के बन्धन का कारण है।

तात्पर्य : भौतिकतावादी जीवन में मोहग्रस्त व्यक्ति के लिए इन्द्रियतृप्ति में लगे शरीर, मन तथा इन्द्रियाँ बारम्बार जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग के बन्धन के कारण हैं। किन्तु जो अध्यात्मज्ञानी हैं, उनके लिए वही शरीर, इन्द्रियाँ तथा मन मुक्ति के कारण हैं। इसकी पुष्टि कठोपनिषद् (१.३.३-४, ९) में की गई है—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च

बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ।

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्

सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ।

आत्मा शरीर रूपी रथ का स्वामी है, जिसका सारथी बुद्धि है। मन गन्तव्य तक पहुँचने का संकल्प है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं और इन्द्रियविषय इसी कार्य में सम्मिलित हैं। इस प्रकार मनुष्य गन्तव्य विष्णु तक पहुँच सकता है, जो जीवन के परम लक्ष्य हैं (परमं पदम्)। बद्ध जीवन में शरीर की चेतना बन्धन का

कारण है, किन्तु यही चेतना जब कृष्णभावनामृत में रूपान्तरित होती है, तो यह सबों के भगवद्धाम लौटने का कारण बनती है।

इसलिए मनुष्य-शरीर का उपयोग दो प्रकार से किया जा सकता है—अज्ञान के गहनतम भागों में जाने या भगवद्धाम वापस जाने के लिए। भगवद्धाम जाने का मार्ग *महत्-सेवा* अर्थात् स्वरूपसिद्ध गुरु स्वीकार करना है। *महत् सेवां द्वारमाहुर्विमुक्तेः*। मुक्ति के लिए प्रामाणिक भक्तों के निर्देश मानने चाहिए क्योंकि वे ही पूर्ण ज्ञान प्रदान करने वाले हैं। दूसरी ओर, *तमोद्वारं योषितां सङ्गिसङ्गम्*—यदि संसार के गहनतम भागों में जाना हो तो स्त्रियों के प्रति आसक्त पुरुषों की संगति करता रहे (*योषितां सङ्गिसङ्गम्*)। *योषित्* शब्द का अर्थ है “स्त्री”। जो लोग अत्यधिक भौतिकतावादी होते हैं, वे स्त्रियों पर आसक्त रहते हैं।

इसीलिए कहा गया है—*आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च*। यह शरीर रथ के समान है, जिससे कहीं भी जाया जा सकता है। चाहे इसे कुशलता से चलाए या फिर मनमाने ढंग से—तब वह किसी खड्डे में गिर सकता है। दूसरे शब्दों में, यदि कोई अनुभवी गुरु से आदेश ग्रहण करता है, तो वह भगवद्धाम वापस जा सकता है, अन्यथा जन्म-मृत्यु के चक्कर में फँस जाता है। अतएव कृष्ण उपदेश देते हैं—

अश्रद्धधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप ।

अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥

“जो लोग भक्ति के मार्ग पर श्रद्धालु नहीं हैं, हे शत्रुओं के विजेता! वे मुझे नहीं पा सकते, अपितु इस संसार में जन्म-मरण में लौट आते हैं।” (*भगवद्गीता* ९.३) साक्षात् भगवान् उपदेश देते हैं कि कोई किस प्रकार भगवद्धाम लौट सकता है, किन्तु यदि कोई उनके उपदेशों पर ध्यान नहीं देता तो वह भगवद्धाम वापस न जाकर इसी संसार में जन्म-मृत्यु के दुःखमय चक्र में जीवन बिताता है (*मृत्युसंसारवर्त्मनि*)।

अतएव अनुभवी अध्यात्मवादियों की सलाह है कि शरीर को जीवन का परम लक्ष्य प्राप्त करने में लगाए रखा जाए (*स्वार्थगतिम्*)। जीवन का वास्तविक लक्ष्य तो भगवद्धाम वापस जाना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अनेक वैदिक ग्रंथ हैं यथा *वेदान्त सूत्र*, *उपनिषद्*, *भगवद्गीता*, *महाभारत* तथा

रामायण। मनुष्य को इन वैदिक ग्रंथों से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए और निवृत्ति मार्ग का अभ्यास करना चाहिए। तभी उसका जीवन सफल हो सकेगा। शरीर तभी तक महत्त्वपूर्ण है जब तक उसमें चेतना है। चेतनाहीन शरीर पदार्थ का पिंड है। अतएव भगवद्धाम वापस जाने के लिए मनुष्य की चेतना ही उसके भवबन्धन का कारण है किन्तु यदि इस चेतना को भक्तियोग से शुद्ध कर दिया जाय तो उसे अपनी उपाधि की—कि वह भारतीय, अमरीकी, मुसलमान, क्रिस्तानी है—असत्यता का बोध हो सकेगा। सर्वोपाधि विनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्। मनुष्य को सारी उपाधियाँ भूलकर अपनी चेतना का उपयोग कृष्ण की सेवा में करना चाहिए। अतएव यदि कोई कृष्णभावनामृत आन्दोलन का लाभ उठाए तो उसका जीवन निश्चित रूप से सफल हो जाए।

अक्षं दशप्राणमधर्मधर्मौ

चक्रेऽभिमानं रथिनं च जीवम् ।

धनुर्हि तस्य प्रणवं पठन्ति

शरं तु जीवं परमेव लक्ष्यम् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

अक्षम्—अरा (रथ के पहिये के); दश—दस; प्राणम्—शरीर के भीतर प्रवाहित होने वाली दस प्रकार की वायु; अधर्म—अधर्म; धर्म—तथा धर्म (पहिए के ऊपरी तथा निचले भाग); चक्रे—पहिए में; अभिमानम्—मिथ्या पहचान; रथिनम्—रथ का स्वामी या शरीर का स्वामी; च—भी; जीवम्—जीव; धनुः—धनुष; हि—निस्सन्देह; तस्य—उसका; प्रणवम्—वैदिक ओङ्कार मंत्र; पठन्ति—कहा जाता है; शरम्—तीर; तु—लेकिन; जीवम्—जीव; परम्—परमेश्वर; एव—निस्सन्देह; लक्ष्यम्—लक्ष्य।

शरीर के भीतर कार्यशील दस प्रकार की वायुओं की तुलना रथ के पहिए के अरों (तीलियों) से की गई है और इस पहिए के ऊपरी तथा निचले भाग धर्म तथा अधर्म कहलाते हैं। देहात्मबुद्धि में रहने वाला जीव रथ का स्वामी है। वैदिक प्रणव मंत्र ही धनुष है, साक्षात् शुद्ध जीव तीर है और परम पुरुष उसका लक्ष्य है।

तात्पर्य : शरीर के भीतर दस प्रकार की वायुओं का संचार सदा होता रहता है। इनके नाम हैं—प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त तथा धनञ्जय। इनकी तुलना यहाँ रथ के पहिए के अरों से की गई है। प्राणवायु जीवों के समस्त कार्यकलापों की शक्ति है और ये कार्यकलाप कभी धार्मिक होते हैं, तो कभी अधार्मिक। इस प्रकार धर्म तथा अधर्म रथ के पहियों के ऊपरी तथा निचले भाग कहे जाते हैं। जब जीव भगवद्धाम जाने का निश्चय करता है, तो उसका लक्ष्य भगवान् विष्णु रहता है। बद्धावस्था में मनुष्य यह नहीं समझ पाता कि उसका जीवन-लक्ष्य परमेश्वर है। न ते

विदुः स्वार्थगतिं हि विष्णुः दुराशया ये बहिरर्थमानिनः । जीव इस भौतिक जगत में सुखी रहने का प्रयास करता है किन्तु अपने जीवन-लक्ष्य को नहीं जान पाता । किन्तु जब वह जीवात्मा शुद्ध हो जाता है, तो वह देहात्मबुद्धि की धारणा को त्याग देता है और वह अपने को किसी जाति, राष्ट्र, समाज, परिवार इत्यादि से सम्बन्धित होने की झूठी पहचान को त्याग देता है (सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्) । तब वह अपने विमल जीवन का तीर लेकर प्रणव या हरे कृष्ण मंत्र के दिव्य कीर्तन रूपी धनुष की सहायता से अपने आपको भगवान् की ओर फेंकता है ।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने टीका की है कि चूँकि इस श्लोक में धनुष और बाण शब्द आये हैं अतएव कोई यह तर्क कर सकता है कि भगवान् तथा जीव परस्पर शत्रु हो गए हैं । यद्यपि भगवान् जीव का तथाकथित शत्रु बन सकता है किन्तु यह भगवान् का वीररस से युक्त विनोद है । उदाहरणार्थ भगवान् ने भीष्म से युद्ध किया और जब भीष्म ने कुरुक्षेत्र के युद्ध में भगवान् के शरीर को तीरों से बेध डाला तो यह बारह प्रकार के भावों में से एक प्रकार का विनोद-भाव या सम्बन्ध था । जब बद्धजीव भगवान् पर तीर चला कर उन तक पहुँचना चाहता है, तो भगवान् को आनन्द मिलता है और जीव को भगवद्धाम जाने का लाभ मिलता है । इस सम्बन्ध में दिया गया दूसरा उदाहरण अर्जुन का है, जिसने आधार मीन या चक्र के भीतर लगी मछली को वेध कर द्रौपदी की संगति प्राप्त की । इसी प्रकार यदि कोई भगवान् के पवित्र नाम के कीर्तन रूपी बाण से भगवान् विष्णु के चरणकमलों को वेध देता है, तो उसे भक्ति के इस शौर्यपूर्ण कार्य के लिए भगवद्धाम वापस जाने का लाभ मिलता है ।

रागो द्वेषश्च लोभश्च शोकमोहौ भयं मदः ।

मानोऽवमानोऽसूया च माया हिंसा च मत्सरः ॥ ४३ ॥

रजः प्रमादः क्षुन्नित्वा शत्रवस्त्वेवमादयः ।

रजस्तमःप्रकृतयः सत्त्वप्रकृतयः क्वचित् ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

रागः—आसक्ति; द्वेषः—शत्रुता; च—भी; लोभः—लालच; च—भी; शोक—सन्ताप; मोहौ—मोह; भयम्—भय; मदः—पागलपन; मानः—प्रतिष्ठा; अवमानः—अपमान; असूया—छिद्रान्वेषण, दूसरों के कार्यों में से दोष ढूँढ़ना; च—भी; माया—छलावा; हिंसा—ईर्ष्या; च—भी; मत्सरः—असहिष्णुता; रजः—रजोगुण (कामेच्छा); प्रमादः—मोह; क्षुत्—भूख; निद्रा—नींद; शत्रवः—शत्रु; तु—निस्सन्देह; एवम् आदयः—जीव की अन्य ऐसी ही धारणाएँ तक; रजः-तमः—रजो तथा तमोगुण; प्रकृतयः—कारण; सत्त्व—सतो गुण से; प्रकृतयः—कारण; क्वचित्—कभी-कभी ।

बद्ध-अवस्था में मनुष्य की जीवन सम्बन्धी धारणाएँ कभी कभी कामेच्छा तथा अज्ञान (रजो तथा तमो गुण) के कारण दूषित हो जाती हैं, जो आसक्ति, शत्रुता, लोभ, शोक, मोह, भय, मद, झूठी प्रतिष्ठा, अपमान, छिद्रान्वेषण, छलावा, ईर्ष्या, असहिष्णुता, कामेच्छा, मोह, भूख तथा निद्रा के रूप में प्रकट होती हैं। ये सभी शत्रु हैं। कभी-कभी सतोगुण के द्वारा भी मनुष्य की धारणाएँ दूषित हो जाती हैं।

तात्पर्य : जीवन का असली उद्देश्य भगवद्धाम को वापस जाना है किन्तु प्रकृति के तीनों गुणों के द्वारा—कभी रजोगुण तथा तमोगुण के मेल से तो कभी सतोगुण के द्वारा अनेक व्यवधान आते रहते हैं। इस भौतिक जगत् में यदि कोई भौतिकतावादी दृष्टि से परोपकारी, राष्ट्रवादी तथा अच्छा व्यक्ति भी हो तो जीवन की ये सारी धारणाएँ आध्यात्मिक प्रगति में बाधक हो जाती हैं। तो फिर शत्रुता, लालच, मोह, शोक तथा भोग के प्रति अत्यधिक आसक्ति न जाने कितनी बड़ी बाधक होंगी? विष्णु-रूपी लक्ष्य की ओर बढ़ने के लिए जो हमारा असली लक्ष्य है इन विभिन्न अवरोधों या शत्रुओं को जीतने में मनुष्य को अत्यन्त शक्तिशाली होना चाहिए, दूसरे शब्दों में, मनुष्य को इस संसार में न तो अच्छा बनने में, न बुरा बनने में रुचि रखनी चाहिए।

इस भौतिक जगत् में तथाकथित अच्छाई और बुराई एक-सी हैं, क्योंकि वे प्रकृति के तीन गुणों से उत्पन्न होती हैं। मनुष्य को प्रकृति के पार जाना होता है। यहाँ तक कि वैदिक अनुष्ठान भी प्रकृति के तीन गुणों से उत्पन्न होते हैं। अतएव कृष्ण ने अर्जुन को सलाह दी—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।

निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो नियोगक्षेम आत्मवान् ॥

“वेदों में मुख्यतया प्रकृति के तीनों गुणों का वर्णन है। हे अर्जुन! इन गुणों से ऊपर उठो। इन सबों के परे होओ। समस्त द्वन्द्वों से, लाभ-हानि की चिन्ताओं से मुक्त होओ तथा आत्मा में स्थित होओ।” (भगवद्गीता २.४५) भगवान् ने भगवद्गीता में अन्यत्र भी कहा है—*ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः*—यदि कोई बहुत अच्छा व्यक्ति बन जाता है, अर्थात् यदि वह सतोगुणी होता है, तो वह स्वर्ग को जा सकता है। इसी प्रकार यदि वह रजो तथा तमो गुणों से दूषित होता है, तो वह इसी जगत् में बना रह सकता है

या फिर पशु जगत में गिर सकता है। किन्तु ये सारे पद आध्यात्मिक मोक्ष के पथ में अवरोध हैं।
अतएव श्री चैतन्य महाप्रभु कहते हैं—

ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान् जीव ।

गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्ति-लता-बीज ॥

यदि कोई इतना भाग्यशाली हो कि इस तथाकथित अच्छाई तथा बुराई को पार कर जाये और कृष्ण तथा गुरु की कृपा से भक्ति के पद पर पहुँच जाये तो उसका जीवन सफल हो जाता है। इस सम्बन्ध में उसे अत्यन्त साहसी होना चाहिए जिससे वह कृष्णभावनामृत के शत्रुओं को पराजित कर सके। इस जगत में अच्छे तथा बुरे की परवाह न करते हुए डट कर कृष्णभावनामृत का प्रचार करना चाहिए।

यावन्नृकायरथमात्मवशोपकल्पं

धत्ते गरिष्ठचरणार्चनया निशातम् ।

ज्ञानासिमच्युतबलो दधदस्तशत्रुः

स्वानन्दतुष्ट उपशान्त इदं विजह्यात् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

यावत्—जब तक; नृ-काय—यह मनुष्य शरीर; रथम्—रथ रूप; आत्म-वश—अपने नियंत्रण पर आश्रित; उपकल्पम्—जिसमें अनेक अधीन अंग हैं; धत्ते—धारण करता है; गरिष्ठ-चरण—श्रेष्ठ गुरुजनों के चरणकमल; अर्चनया—सेवा करके; निशातम्—तेज की हुई; ज्ञान-असिम्—ज्ञान रूपी तलवार या हथियार; अच्युत-बलः—कृष्ण की दिव्य शक्ति से; दधत्—पकड़ कर; अस्त-शत्रुः—जब तक शत्रु पराजित न हो जाये; स्व-आनन्द-तुष्टः—दिव्य आनन्द से पूर्णतया सन्तुष्ट; उपशान्तः—समस्त भौतिक कल्मष से शुद्ध चेतना; इदम्—इस शरीर को; विजह्यात्—त्याग दे।

जब तक मनुष्य को इस शरीर को इसके विभिन्न अंगों तथा साज-सामान सहित जो पूर्णतया अपने वश में नहीं हैं स्वीकार करना है, तब तक उसे अपने श्रेष्ठ जनों—अपने गुरु तथा गुरु के पूर्ववर्तियों व्यक्तियों के चरणकमलों को धारण करना चाहिए। उनकी कृपा से वह ज्ञान की तलवार को तेज कर सकता है और भगवत् कृपा के बल पर तब वह उपर्युक्त शत्रुओं को पराजित कर सकता है। इस प्रकार भक्त को अपने ही दिव्य आनन्द में लीन रहने में समर्थ होना चाहिए और तब वह अपना शरीर त्याग कर अपनी आध्यात्मिक पहचान फिर से पा सकता है।

तात्पर्य : भगवान् ने भगवद्गीता (४.९) में कहा है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥

“हे अर्जुन! जो मेरे प्राकट्य तथा कार्यों की दिव्य प्रकृति को जानता है, वह शरीर छोड़ने पर इस जगत में पुनः जन्म धारण नहीं करता, अपितु मेरे नित्य धाम को प्राप्त करता है।” यह जीवन की सर्वोच्च सिद्धि है और मानव शरीर इसी उद्देश्य के लिए है। श्रीमद्भागवत (११.२०.१७) में कहा गया है—

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं

प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम् ।

मयानुकूलेन नभस्वतेरितं

पुमान्भवाब्धि न तरेत्स आत्महा ॥

यह मनुष्य शरीर अत्यन्त मूल्यवान् नाव है, गुरु इसका कर्णधार है—गुरुकर्णधारम्—जो अज्ञान सागर के पार ले जाने में नाव का मार्गदर्शन करने के लिए है। कृष्ण का उपदेश अनुकूल हवा है। मनुष्य को अज्ञान-सागर पार करने के लिए इन सुविधाओं का उपयोग करना चाहिए। चूँकि गुरु ही कर्णधार है, अतएव गुरु की सेवा निष्ठापूर्वक की जानी चाहिए जिससे उनकी कृपा से परमेश्वर की कृपा प्राप्त हो सके।

यहाँ पर अच्युतबलः शब्द महत्त्वपूर्ण है। गुरु निश्चय ही अपने शिष्यों पर अत्यन्त कृपालु रहता है, अतएव उसे प्रसन्न कर लेने पर शिष्य को भगवान् से बल मिलता है। इसीलिए श्री चैतन्य महाप्रभु कहते हैं—गुरु-कृष्ण-प्रसादे पाय भक्ति-लता-बीज—पहले गुरु को प्रसन्न करना चाहिए तब कृष्ण स्वतः प्रसन्न हो जाएँगे और उनसे वह बल प्राप्त हो जाता है सकेगा जिससे अज्ञान के सागर को पार किया जा सके। यदि कोई सचमुच भगवद्धाम वापस जाने का इच्छुक है, तो उसे गुरु को प्रसन्न करके काफी बलशाली हो जाना चाहिए, क्योंकि तभी उसे शत्रु को जीतने के लिए हथियार मिल सकेगा और साथ ही मिलेगी कृष्ण की कृपा। केवल ज्ञान रूपी हथियार पा लेना पर्याप्त नहीं है। उसे अपने गुरु की सेवा करके तथा उसके आदेशों का पालन करके इस हथियार को तेज करना है। तभी उसे भगवान् की कृपा मिल सकेगी। सामान्य युद्ध में अपने शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए मनुष्य को अपने रथ तथा घोड़ों की सहायता लेनी होती है और शत्रु को जीत लेने पर यह रथ तथा सारा साज-सामान छोड़ा जा

सकता है। इसी प्रकार जब तक यह मनुष्य देह है तब तक इसका पूरा-पूरा उपयोग जीवन की परम सिद्धि को पाने—भगवद्धाम वापस जाने—के लिए करना चाहिए।

ज्ञान की सिद्धि ब्रह्मभूत होने में है। जैसाकि भगवान् भगवद्गीता (१८.५४) में कहते हैं—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।

समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥

“जो दिव्य पद पर स्थित है उसे तुरन्त परब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है और वह परम प्रसन्न हो जाता है। वह किसी चीज के लिए न तो शोक करता है, न इच्छा करता है; वह समस्त जीवों पर समभाव रखता है। ऐसी दशा में उसे शुद्ध भक्ति प्राप्त होती है।” निर्विशेषवादियों के समान ज्ञान के अनुशीलन मात्र से माया के चंगुल से नहीं निकला जा सकता। उसे भक्ति का पद प्राप्त करना होता है—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥

“केवल भक्ति द्वारा परम पुरुष को यर्थाथ रूप में समझा जा सकता है और जब ऐसी भक्ति से कोई परमेश्वर की पूर्ण चेतना में रहता है, तो वह भगवद्धाम में प्रवेश कर सकता है।” (भगवद्गीता १८.५५)। जब तक भक्ति की अवस्था और गुरु तथा कृष्ण की कृपा प्राप्त नहीं हो जाती तब तक नीचे गिरने तथा फिर से भौतिक शरीर धारण करने की सम्भावना बनी रहती है। अतएव कृष्ण भगवद्गीता (४.९) में बल देकर कहते हैं—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥

“हे अर्जुन! जो मेरे जन्म तथा कर्म की दिव्य प्रकृति को जानता है, वह शरीर छोड़ने पर इस जगत में पुनः जन्म धारण नहीं करता अपितु मेरे नित्य धाम को प्राप्त करता है।”

यहाँ पर *तत्त्वतः* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है—इसका अर्थ है “वास्तव में”। *ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा*। जब तक कोई गुरु की कृपा से कृष्ण को वास्तव में समझ नहीं लेता तब तक वह अपने भौतिक शरीर को त्यागने के लिए स्वतंत्र नहीं रहता। जैसाकि कहा गया है—*आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं*

ततः पतन्त्यधोऽनाहतयुष्मदङ्घ्रयः—यदि मनुष्य कृष्ण के चरणकमलों की सेवा करने में लापरवाही करता है, तो केवल ज्ञान के बल पर भवबन्धन से मुक्त नहीं हो सकता। यदि उसे *ब्रह्मपदम्*—ब्रह्म में तादात्म्य की अवस्था—भी प्राप्त हो जाए तो भी भक्ति के बिना वह नीचे गिर सकता है। उसे फिर से भवबन्धन में गिरने के खतरे से सतर्क रहना चाहिए। यदि कोई गारंटी है, तो यही है कि भक्ति अवस्था को प्राप्त हुआ जाये जहाँ से कभी भी गिरना नहीं पड़ता। तब वह भौतिक जगत के कार्यकलापों से मुक्त हो जाता है। संक्षेप में, जैसाकि श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है, मनुष्य को चाहिए कि वह कृष्णभावनामृत की परम्परा में चले आ रहे प्रामाणिक गुरु से सम्पर्क करे, क्योंकि उसी की कृपा तथा उसी के उपदेशों से कृष्ण से बल प्राप्त हो सकेगा। इस तरह भक्ति करने से जीवन का चरम लक्ष्य—विष्णु के चरणकमल—प्राप्त हो जाता है।

इस श्लोक में *ज्ञानासिम् अच्युतबलः* शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। *ज्ञानासिम्* अर्थात् ज्ञान रूपी तलवार कृष्ण द्वारा दी जाती है और जब कोई कृष्ण के उपदेश रूपी तलवार को पकड़ने के लिए गुरु और कृष्ण की सेवा करता है, तो बलराम उसे बल देते हैं। बलराम नित्यानन्द हैं। *ब्रजेन्द्रनन्दन येइ, शची-सुत हैल सेइ, बलराम ह-इल निताइ*। यह *बल* अर्थात् बलराम श्री चैतन्य महाप्रभु के साथ आता है और ये दोनों इतने कृपालु हैं कि इस कलियुग में कोई भी सुगमता से उनके चरणकमलों की शरण ग्रहण कर सकता है। वे विशेषतर इस युग की पतितात्माओं का उद्धार करने के लिए आते हैं। पापी तापी यत छिल, हरि नामे उद्धारिल। उनका हथियार *सङ्कीर्तन* या *हरिनाम* है। इस तरह मनुष्य को कृष्ण से ज्ञान रूपी तलवार ग्रहण करके बलराम की कृपा से बलिष्ठ बनना चाहिए। इसीलिए हम वृन्दावन में कृष्ण-बलराम की पूजा कर रहे हैं। *मुण्डक उपनिषद्* (३.२.४) में कहा गया है—

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो

न च प्रमादात् तपसो वाप्यलिङ्गात्।

एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वां-

स्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम ॥

बलराम की कृपा के बिना जीवन-लक्ष्य प्राप्त नहीं हो सकता। अतएव श्री नरोत्तम दास ठाकुर कहते हैं— *निताइयेर करुणा हबे, ब्रजे राधा-कृष्ण पाबे*—जब नित्यानन्द अर्थात् बलराम की कृपा प्राप्त होती है, तो राधाकृष्ण के चरणकमल आसानी से मिल जाते हैं।

से सम्बन्ध नाहि यार, वृथा जन्म गेल तार।

विद्या-कुले कि करिबे तार ॥

यदि किसी का निताई अर्थात् बलराम से कोई सम्बन्ध नहीं होता तो वह भले ही ज्ञानी हो अथवा सम्मानित परिवार में जन्मा हो, उसकी यह सम्पदाएं काम नहीं आती। अतएव हमें बलराम से प्राप्त हुए बल द्वारा कृष्णभावनामृत के शत्रुओं को जीतना चाहिए।

नोचेत्प्रमत्तमसदिन्द्रियवाजिसूता

नीत्वोत्पथं विषयदस्युषु निक्षिपन्ति ।

ते दस्यवः सहयसूतममुं तमोऽन्धे

संसारकूप उरुमृत्युभये क्षिपन्ति ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

नोचेत्—यदि हम अच्युत कृष्ण के उपदेशों का पालन नहीं करते तथा बलराम की शरण नहीं ग्रहण करते; प्रमत्तम्—लापरवाह; असत्—जो सदैव भौतिक चेतना की ओर उन्मुख रहती हैं; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; वाजि—घोड़े की तरह कार्य करते हुए; सूताः—रथ हाँकने वाला (बुद्धि); नीत्वा—लाकर; उत्पथम्—भौतिक इच्छा रूपी पथ पर; विषय—इन्द्रिय विषय; दस्युषु—लुटेरों के हाथों में; निक्षिपन्ति—फेंकते हैं; ते—वे; दस्यवः—लुटेरों; स—सहित; हय-सूतम्—घोड़े तथा सारथी को; अमुम्—वे सब; तमः—अंधकार; अन्धे—अंधा; संसार-कूपे—संसार रूपी कुएँ में; उरु—विशाल; मृत्यु-भये—मृत्यु का डर; क्षिपन्ति—फेंकते हैं।

अन्यथा यदि मनुष्य अच्युत कृष्ण तथा बलदेव की शरण ग्रहण नहीं कर लेता तो इन्द्रियाँ रूपी घोड़े तथा बुद्धि रूपी सारथी दोनों ही भौतिक कल्मष के प्रति उन्मुख होने से अनजाने ही शरीर रूपी रथ को इन्द्रियतृप्ति के मार्ग पर ला खड़ा करते हैं। इस प्रकार जब विषय के धूर्तों—खाना, सोना तथा मैथुन—के द्वारा वह आकृष्ट होता है, तो घोड़े तथा सारथी संसार के अन्धकूप में गिरा दिए जाते हैं और मनुष्य पुनः जन्म-मृत्यु की घातक तथा अत्यन्त भयावह स्थिति में आ पड़ता है।

तात्पर्य : गौर-निताइ—कृष्ण-बलराम—की रक्षा के बिना मनुष्य संसार के अज्ञान-रूपी अंधकूप से बाहर नहीं निकल सकता। इसका संकेत यहाँ *नोचेत्* शब्द से मिलता है, जिसका अर्थ है कि मनुष्य सदा भौतिक संसार के अंधकूप में रहता रहेगा। जीव को *निताइ-गौर* अर्थात् कृष्ण तथा बलराम से बल

प्राप्त करना चाहिए। नितार्ई-गौर की कृपा के बिना अज्ञान के इस अंधकूप से निकलने का कोई रास्ता नहीं है। जैसाकि चैतन्य-चरितामृत (आदि १.२) में कहा गया है—

वन्दे श्रीकृष्णचैतन्यनित्यानन्दो सहोदितौ ।

गौडोदये पुष्पवन्तौ चित्रौ शन्दौ तमोनुदौ ॥

“मैं श्रीकृष्ण चैतन्य तथा भगवान् नित्यानन्द को सादर नमस्कार करता हूँ जो सूर्य तथा चन्द्रमा के समान हैं। वे एकसाथ गौड़ के क्षितिज में अज्ञान का अंधकार दूर करने के लिए उदित हुए हैं और इस प्रकार आश्चर्यजनक रीति से सबों को वर दे रहे हैं।” यह भौतिक जगत अज्ञान का अंधकूप है। इस अंधकूप में पतित आत्मा को गौर-नितार्ई के चरणकमलों की शरण ग्रहण करनी चाहिए क्योंकि तब वह इस जगत से सरलता से उबर सकता है। उनके बल के बिना मीमांसात्मक ज्ञान के बल पर पदार्थ भौतिकता के बन्धन से निकलने का प्रयास अपर्याप्त होगा।

प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम् ।

आवर्तते प्रवृत्तेन निवृत्तेनाश्नुतेऽमृतम् ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

प्रवृत्तम्—भौतिक भोग के लिए झुकाव; च—तथा; निवृत्तम्—भौतिक भोग का अन्त; च—तथा; द्वि-विधम्—इन दो प्रकारों; कर्म—कर्मों का; वैदिकम्—वेदों द्वारा संस्तुत; आवर्तते—संसार के चक्र में ऊपर-नीचे घूमता है; प्रवृत्तेन—भौतिक कार्यकलापों के भोग की प्रवृत्ति द्वारा; निवृत्तेन—ऐसे कार्यों को बन्द करने से; अश्नुते—भोग करता है; अमृतम्—शाश्वत जीवन।

वेदों के अनुसार प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दो प्रकार के कार्यकलाप होते हैं—प्रवृत्ति कार्यों का अर्थ है अपने को भौतिकतावादी जीवन की निम्नतर अवस्था से उच्चतर अवस्था तक उठाना जबकि निवृत्ति का अर्थ है भौतिक इच्छा का अन्त। प्रवृत्ति कार्यों से मनुष्य भौतिक बन्धन में कष्ट उठाता है, किन्तु निवृत्ति कार्यों से वह शुद्ध हो जाता है और नित्य आनन्दमय जीवन को भोगने के योग्य बनता है।

तात्पर्य : जैसाकि भगवद्गीता (१६.७) में पुष्टि की गई है—प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः—असुर या अभक्त प्रवृत्ति तथा निवृत्ति के अन्तर को नहीं जान सकते। वे जो चाहते हैं करते हैं। ऐसे लोग अपने को प्रबल प्रकृति से स्वतंत्र मानते हैं; अतएव वे अनुत्तरदायी होते हैं और पुण्य कर्म

करने की परवाह नहीं करते। निस्सन्देह, वे पाप तथा पुण्य कर्म में अन्तर नहीं कर पाते। भक्ति कभी पुण्य या पाप कर्म पर निर्भर नहीं करती। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१.२.६) में कहा गया है—

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।

अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति ॥

“सारी मानवता का परम धर्म वह है, जिससे मनुष्य दिव्य भगवान् की प्रेमा-भक्ति प्राप्त कर सकें। ऐसी भक्ति आत्मा को पूरी तरह तुष्ट करने के लिए अहैतुकी तथा अप्रतिहत होनी चाहिए।” फिर भी जो लोग पुण्यकर्म करते हैं उनके भक्त बनने की सम्भावना अधिक है। जैसाकि *भगवद्गीता* (७.१६) में कृष्ण कहते हैं— *चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन*—हे अर्जुन! चार प्रकार के पुणात्मा लोग मेरी भक्ति करते हैं। यदि कोई किसी भौतिक उद्देश्य से भी भक्ति करता है, तो भी वह पुण्यात्मा समझा जाता है और चूँकि वह कृष्ण के पास आया है, अतएव वह क्रमशः भक्ति की अवस्था तक पहुँच जाएगा। तब वह ध्रुव महाराज की भाँति भगवान् से कोई भौतिक वरदान स्वीकार करने से इनकार कर देगा (*स्वामिन् कृतार्थोऽस्मि वरं न याचे*)। अतएव भौतिक प्रवृत्ति होने पर भी मनुष्य कृष्ण-बलराम या गौर-निताइ के चरणकमलों की शरणग्रहण कर सकता है, जिससे वह सारी भौतिक इच्छाओं से तुरन्त शुद्ध हो सके (*क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति*)। जब मनुष्य पाप तथा पुण्य कर्मों की प्रवृत्तियों से मुक्त हो जाता है, तो वह वापस भगवद्धाम जाने का पूर्ण सुपात्र बन जाता है।

हिंस्रं द्रव्यमयं काम्यमग्निहोत्राद्यशान्तिदम् ।

दर्शश्च पूर्णमासश्च चातुर्मास्यं पशुः सुतः ॥ ४८ ॥

एतदिष्टं प्रवृत्ताख्यं हुतं प्रहुतमेव च ।

पूर्तं सुरालयारामकूपपाजीव्यादिलक्षणम् ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

हिंस्रम्—पशुओं की बलि की पद्धति; द्रव्य-मयम्—जिसमें तमाम साज-सामग्री की आवश्यकता हो; काम्यम्—असीम इच्छाओं से पूरित; अग्नि-होत्र-आदि—अग्नि होम यज्ञ जैसे अनुष्ठान; अशान्ति-दम्—चिन्ता उत्पन्न करने वाले; दर्शः—दर्श नामक अनुष्ठान; च—तथा; पूर्णमासः—पूर्णमास अनुष्ठान; च—भी; चातुर्मास्यम्—चार मास पर होने वाला विधान; पशुः—पशु यज्ञ; सुतः—सोम यज्ञ; एतत्—ये सारे; इष्टम्—लक्ष्य; प्रवृत्त-आख्यम्—भौतिक आसक्ति नाम से ज्ञात; हुतम्—वैश्व देव, जो भगवान् के अवतार हैं; प्रहुतम्—बलिहरण नाम का उत्सव; एव—निस्सन्देह; च—भी; पूर्तम्—जनता के लाभ के हेतु; सुर-आलय—देवताओं के लिए मन्दिर बनवाना; आराम—विश्रामालय तथा बगीचे; कूप—कुँआ खुदवाना; आजीव्य-आदि—भोजन तथा जल वितरण जैसे कार्य; लक्षणम्—लक्षण।

अग्निहोत्र-यज्ञ, दर्श-यज्ञ, पूर्णमास-यज्ञ, चातुर्मास्य-यज्ञ, पशु-यज्ञ तथा सोम-यज्ञ नामक सारे अनुष्ठानों तथा यज्ञों की विशेषता पशुओं का वध करना तथा अनेक अमूल्य पदार्थों को, विशेष रूप से अन्नों को, जलाना है। ये सब भौतिक इच्छाओं की पूर्ति के लिए सम्पन्न किये जाते हैं तथा ये चिन्ता (अशान्ति) उत्पन्न करते हैं। ऐसे यज्ञ करना, वैश्वदेव का पूजन तथा बलिहरण उत्सव सम्पन्न करना जो सभी सम्भवतः जीवन लक्ष्य माने जाते हैं तथा देवताओं के लिए मन्दिर बनवाना, विश्रमागृह तथा बगीचे बनवाना, जल वितरण के लिए कुएँ खुदवाना, भोजन वितरण के लिए केन्द्रों की स्थापना करना तथा जन-कल्याण के कार्य करना—ये सब लक्षण भौतिक इच्छाओं के प्रति आसक्ति से अभिव्यक्त होते हैं।

द्रव्यसूक्ष्मविपाकश्च धूमो रात्रिरपक्षयः ।

अयनं दक्षिणं सोमो दर्श ओषधिवीरुधः ॥ ५० ॥

अन्नं रेत इति क्षमेश पितृयानं पुनर्भवः ।

एकैकश्येनानुपूर्वं भूत्वा भूत्वेह जायते ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

द्रव्य-सूक्ष्म-विपाकः—अग्नि की आहुति दी जाने वाली सामग्री यथा अन्न तथा घी; च—तथा; धूमः—धुएँ में परिणत या धुएँ का अधिष्ठाता देवता; रात्रिः—रात्रि का अधिष्ठाता; अपक्षयः—अंधेरे पाख में; अयनम्—सूर्य के पार करने का अधिष्ठाता देवता; दक्षिणम्—दक्षिणी मंडल में; सोमः—चन्द्रमा; दर्शः—लौटते हुए; ओषधि—पौधे (पृथ्वी पर); वीरुधः—सामान्य वनस्पति (शोक का जन्म); अन्नम्—अन्न; रेतः—वीर्य; इति—इस प्रकार से; क्षम-ईश—हे पृथ्वी के राजा, युधिष्ठिर; पितृ-यानम्—पिता के वीर्य से जन्म ग्रहण करने का मार्ग; पुनः-भवः—फिर-फिर; एक-एकश्येन—एक के बाद एक, क्रमशः; अनुपूर्वम्—क्रमवार, क्रमानुसार; भूत्वा—जन्म लेकर; भूत्वा—पुनः जन्म लेकर; इह—इस भौतिक जगत में; जायते—भौतिक जीवन बिताता है।

हे राजा युधिष्ठिर, जब यज्ञ में घी, अन्न (यथा जौ एवं तिल) की आहुतियाँ दी जाती हैं, तो वे दिव्य धुएँ में परिणत हो जाती हैं, जो मनुष्य को क्रमशः उच्च से उच्चतर लोकों को या धूम, रात्रि, कृष्ण पक्ष, दक्षिणम् तथा अन्त में चन्द्र लोक को ले जाता हैं। किन्तु यज्ञकर्ता फिर पृथ्वी पर उतर कर औषधियाँ, लताएँ, वनस्पतियाँ तथा अन्न बन जाते हैं। तब वे विभिन्न जीवों द्वारा खाये जाते हैं और वीर्य में परिणत होते हैं जिसे मादा शरीर में प्रविष्ट किया जाता है। इस प्रकार मनुष्य पुनः-पुनः जन्म लेता है।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (९.२१) में कहा गया है—

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं

क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।

एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना

गतागतं कामकामा लभन्ते ॥

“जब प्रवृत्ति मार्ग के अनुयायी स्वर्गिक इन्द्रियसुख भोग चुकते हैं, तो वे पुनः इस मर्त्य लोक में वापस लौट आते हैं। इस प्रकार वैदिक नियमों के द्वारा वे केवल क्षणिक सुख प्राप्त करते हैं।” प्रवृत्ति मार्ग का अनुकरण करते हुए स्वर्ग जाने का इच्छुक जीव नियमित रूप से यज्ञ करता है। वह जिस तरह ऊपर-नीचे आता-जाता है इसका वर्णन श्रीमद्भागवत में (यहाँ पर) तथा भगवद्गीता में हुआ है। यह भी कहा गया है—त्रैगुण्यविषया वेदाः—वेदों में मुख्यतया भौतिक प्रकृति के तीन गुणों की चर्चा है। वेदों में से तीन वेद—साम, यजुः तथा ऋक् उच्चलोकों तक जाने और वापस आने का विशद वर्णन करते हैं। लेकिन कृष्ण अर्जुन को उपदेश देते हैं—त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन—प्रकृति के तीनों गुणों को पार कर लेने पर ही जन्म-मृत्यु के चक्र से विमुक्त हुआ जा सकता है। अन्यथा भले ही कोई चन्द्रलोक जैसे उच्च लोक को चला जाये, किन्तु उसे पुनः नीचे आना पड़ता है (क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति)। जब पुण्यकर्मों के फलस्वरूप मनुष्य का सुख समाप्त हो जाता है, तो वह वर्षा के रूप में इस लोक में लौट आता है और सर्वप्रथम वृक्ष या लता के रूप में जन्म लेता है, जिसे मनुष्य समेत विविध पशु खाते हैं और वह वीर्य में बदल जाता है। यही वीर्य मादा के शरीर में जाकर जीव को जन्म देता है। जो लोग पृथ्वी पर इस प्रकार लौटते हैं, वे विशेषतः ब्राह्मण जैसे उच्च परिवारों में जन्म लेते हैं।

यहाँ यह स्मरणीय है कि तथाकथित आधुनिक विज्ञानी भी, जो चन्द्रमा तक जा रहे हैं, वहाँ ठहर नहीं सकते, अपितु अपनी-अपनी प्रयोगशालाओं में लौट आते हैं। अतएव कोई चाहे आधुनिक यांत्रिक विधि से चन्द्रमा तक जाए या पुण्यकर्म करके जाए, अन्ततः उसे पृथ्वी पर लौटना होता है। इसका स्पष्ट उल्लेख इस श्लोक में तथा इसकी व्याख्या भगवद्गीता में हुई है। यदि कोई उच्चतर लोकों को जाता भी है (यान्ति देवव्रता देवान्), तो वहाँ उसका स्थान सुरक्षित नहीं होता, उसे मर्त्यलोक लौटना ही पड़ता है। आब्रह्म भुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन—यदि चन्द्रमा को छोड़ दें और यदि कोई ब्रह्मलोक

को भी जाए तो भी उसे लौटना होता है। *यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम*—किन्तु यदि कोई मेरे धाम को वापस जाता है, तो उसे इस भौतिक लोक में लौटने की आवश्यकता नहीं है।

निषेकादिश्मशानान्तैः संस्कारैः संस्कृतो द्विजः ।
इन्द्रियेषु क्रियायज्ञानज्ञानदीपेषु जुह्वति ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

निषेक-आदि—जीवन का प्रारम्भ (गर्भाधान संस्कार); श्मशान-अन्तैः—तथा मृत्यु के समय, जब शरीर को श्मशान घाट पर जला कर राख कर दिया जाता है; संस्कारैः—संस्कार द्वारा; संस्कृतः—शुद्ध किया गया; द्विजः—दो बार जन्म लेने वाला ब्राह्मण; इन्द्रियेषु—इन्द्रियों में; क्रिया-यज्ञान्—कर्म तथा यज्ञ (जिनसे उच्च लोक में जाया जाता है); ज्ञान-दीपेषु—असली ज्ञान के प्रकाश से; जुह्वति—अर्पित करता है।

द्विज (द्वि-जन्मा ब्राह्मण) को गर्भाधान संस्कार के द्वारा अपने माता-पिता की अनुकम्पा से अपना जीवत्व प्राप्त होता है। जीवन के अन्त में अन्त्येष्टि क्रिया सम्पन्न की जाती है। और तब तक अन्य संस्कार भी संपन्न किए जाते हैं। इस तरह योग्य ब्राह्मण को कुछ समय के बाद भौतिकतावादी कार्यों तथा यज्ञों में अरुचि हो जाती है, किन्तु वह ऐन्द्रिय यज्ञों को पूर्ण ज्ञान के साथ कर्मेन्द्रियों को अर्पित कर देता है, जो ज्ञान की अग्नि से प्रकाशित रहती हैं।

तात्पर्य : जो लोग भौतिकतावादी कार्यों में रुचि लेते हैं, वे जन्म-मृत्यु के चक्र में फंसे रहते हैं। पिछले श्लोक में प्रवृत्ति मार्ग की व्याख्या की जा चुकी है। अब इस श्लोक में बताया जा रहा है कि जिसे पूर्ण ब्रह्मज्ञान होता है, वह उच्च लोकों तक उठने की विधि त्याग कर *निवृत्ति मार्ग* ग्रहण करता है। दूसरे शब्दों में, वह भगवद्धाम जाने की तैयारी करता है। जो लोग ब्राह्मण न होकर नास्तिक होते हैं, वे *प्रवृत्ति* या *निवृत्ति* मार्ग के विषय में कुछ नहीं जानते। वे हर हालत में आनन्द प्राप्त करना चाहते हैं। अतएव हमारा कृष्णभावनामृत आन्दोलन भक्तों को *प्रवृत्ति मार्ग* छोड़ने और *निवृत्ति मार्ग* को स्वीकार करने का प्रशिक्षण देता है, जिससे भगवद्धाम वापस जाया जा सके। यद्यपि इसे समझ पाना कुछ कठिन है किन्तु यदि कोई गम्भीरतापूर्वक कृष्णभावनामृत अपना ले और कृष्ण को समझने का प्रयास करे तो यह अत्यन्त सरल है। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति यह समझ सकता है कि *कर्मकाण्ड* पद्धति के अनुसार यज्ञ करना समय का अपव्यय है और मात्र कर्मकाण्ड को त्याग कर ज्ञानकाण्ड को स्वीकार करना भी व्यर्थ है। अतएव नरोत्तम दास ठाकुर ने *प्रेम भक्ति चन्द्रिका* में लिखा है—

कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड,—केवल विषेर भाण्ड,

अमृत' बलिया येबा खाय।

नाना योनि सदा फिरे, कदर्य भक्षण करे,

तार जन्म अधःपाते याय ॥

कर्मकाण्ड या ज्ञानकाण्ड का जीवन विष-पात्र के तुल्य है और जो ऐसा जीवन पाता है उसके मानो भाग्य फूटे हों। कर्मकाण्ड पद्धति में मनुष्य को पुनः-पुनः जन्म-मृत्यु स्वीकार करना होता है। इसी प्रकार ज्ञानकाण्ड में मनुष्य को पुनः इसी जगत में आना होता है। एकमात्र परम पुरुष की पूजा ही भगवद्धाम जाने की सुरक्षा प्रदान करता है।

इन्द्रियाणि मनस्यूर्मो वाचि वैकारिकं मनः ।

वाचं वर्णसमाम्नाये तमोङ्कारे स्वरे न्यसेत् ।

ओङ्कारं बिन्दौ नादे तं तं तु प्राणे महत्यमुम् ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ (कर्म तथा ज्ञान सम्बन्धी); मनसि—मन में; ऊर्मो—स्वीकृति-अस्वीकृति की तरंगों में; वाचि—शब्दों में; वैकारिकम्—परिवर्तनों से दूषित; मनः—मन को; वाचम्—शब्द को; वर्ण-समाम्नाये—सभीअक्षरों का समूह; तम्—उस; ओङ्कारे—ओङ्कार के संक्षिप्त रूप में; स्वरे—कम्पन में; न्यसेत्—छोड़ दे; ओङ्कारम्—संक्षिप्त शब्द ध्वनि को; बिन्दौ—ओङ्कार बिन्दु में; नादे—ध्वनि स्पन्दन में; तम्—उसको; तम्—उस (नाद); तु—निस्सन्देह; प्राणे—प्राणवायु में; महति—परम में; अमुम्—जीव।

मन स्वीकृति तथा अस्वीकृति की तरंगों से सदैव विक्षुब्ध होता रहता है। अतएव इन्द्रियों के सारे कार्यकलाप मन को अर्पित कर देना चाहिए और मन को अपने शब्दों में अर्पित कर देना चाहिए; फिर इन शब्दों को समस्त वर्णों के समूह में अर्पित करना चाहिए जिसे ओङ्कार के संक्षिप्त रूप को अर्पित कर दिया जाना चाहिए। ओङ्कार को बिन्दु में, बिन्दु को नाद में और उस नाद को प्राणवायु में समर्पित करना चाहिए। जो शेष रूप में जीव बचे उसे परम ब्रह्म में स्थापित करे। यही यज्ञ की विधि है।

तात्पर्य : मन सदैव स्वीकृति-अस्वीकृति द्वारा विक्षुब्ध होता है, जिसकी तुलना निरन्तर ऊपर-नीचे उठने वाली मानसिक तरंगों से की गई है। जीव अपनी विस्मरणशीलता के कारण भवसागर की तरंगों में तैरता रहता है। अतएव श्रील भक्ति विनोद ठाकुर ने गीतावली में लिखा है—*मिछे मायार वशे याच्छा भेसे', खाच्छा हाबुडुबु, भाइ—हे मेरे मन! तुम माया के वश में होकर स्वीकृति तथा अस्वीकृति की तरंगों द्वारा दूर ले जाये जा रहे हो। केवल श्रीकृष्ण की शरण ग्रहण करो जीव कृष्णदास एइ विश्वास,*

कलें त' आर दुःख नाइ—यदि हम कृष्ण के चरणकमलों को ही अपना चरम आश्रय मान लें तो हम माया की इन सभी लहरों से बचे रह सकते हैं, जो मानसिक तथा ऐन्द्रिय गतिविधियों एवं स्वीकृति-अस्वीकृति के विक्षोभ के रूप में तरह-तरह से प्रकट होती हैं। भगवद्गीता (१८.६६) में कृष्ण उपदेश देते हैं—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज ।

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

“तुम सारे धर्मों को त्यागकर केवल मेरी शरण में आ जाओ। मैं तुम्हें सारे पापकर्मों से उबार लूँगा। तुम डरो मत।” अतएव यदि हम कृष्णभावनामृत ग्रहण करके तथा हरे कृष्ण मंत्र के कीर्तन द्वारा कृष्ण के सम्पर्क में सदा रहकर उनके चरणकमलों में अपने को प्रस्तुत कर दें तो हमें वैकुण्ठ लोक वापस जाने के लिए प्रबन्ध करने का अधिक कष्ट नहीं उठाना पड़े। श्री चैतन्य महाप्रभु की कृपा से यह अत्यन्त सरल है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम् ।

कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥

अग्निः सूर्यो दिवा प्राह्णः शुक्लो राकोत्तरं स्वराट् ।

विश्वोऽथ तैजसः प्राज्ञस्तुर्य आत्मा समन्वयात् ॥ ५४ ॥

शब्दार्थ

अग्निः—अग्नि; सूर्यः—सूर्य; दिवा—दिन; प्राह्णः—संध्या; शुक्लः—शुक्ल पक्ष; राक—पूर्णामासी; उत्तरम्—वह अवधि जब सूर्य उत्तर दिशा से होकर जाता है; स्व-राट्—परम् ब्रह्म या ब्रह्माजी; विश्वः—स्थूल उपाधि; अथ—ब्रह्मलोक, सर्वोच्च भौतिक आनन्द; तैजसः—सूक्ष्म उपाधि; प्राज्ञः—कारण रूप उपाधि का साक्षी; तुर्यः—दिव्य; आत्मा—आत्मा; समन्वयात्—प्राकृतिक परिणाम के रूप में।

ऊपर जाते हुए जीव अग्नि, सूर्य, दिन, सायं, शुक्ल पक्ष, पूर्ण चन्द्रमा तथा सूर्य के उत्तर दिशा जाने की अवधि (उत्तरम्) एवं इनके अधिष्ठाता देवताओं के विभिन्न लोकों में प्रवेश करता है। जब वह ब्रह्मलोक में प्रविष्ट होता है, तो वहाँ लाखों वर्षों तक जीवन भोग करने के बाद अन्त में उसकी भौतिक उपाधि समाप्त हो जाती है। तब वह सूक्ष्म उपाधि प्राप्त करता है, जिससे उसे कारण रूप उपाधि प्राप्त होती है, जो समस्त पूर्ववर्ती अवस्थाओं की साक्षी होती है।

इस अवस्था के विनष्ट होने पर उसे शुद्ध अवस्था प्राप्त होती है, जिसमें वह परमात्मा के साथ अपनी पहचान करता है। इस प्रकार से जीव दिव्य बन जाता है।

देवयानमिदं प्राहुर्भूत्वा भूत्वानुपूर्वशः ।

आत्मयान्युपशान्तात्मा ह्यात्मस्थो न निवर्तते ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

देव-यानम्—देवयान नाम ऊपर उठने की विधि को; इदम्—इस; प्राहुः—कहा गया है; भूत्वा भूत्वा—बारम्बार जन्म लेकर; अनुपूर्वशः—लगातार; आत्म-याजी—आत्म-साक्षात्कार का इच्छुक; उपशान्त-आत्मा—समस्त भौतिक इच्छाओं से पूर्णतया मुक्त; हि—निस्सन्देह; आत्म-स्थः—अपने में स्थित; न—नहीं; निवर्तते—लौटता है।

आत्म-साक्षात्कार तक उठने की यह क्रमिक विधि उन लोगों के लिए है, जो सचमुच परम सत्य से अवगत हैं। इस देवयान नामक मार्ग पर बारम्बार जन्म लेने से ये क्रमिक अवस्थाएँ प्राप्त होती हैं। जो आत्मा में स्थित है और समस्त भौतिक इच्छाओं से पूर्णतया मुक्त है उसे इस बारम्बार जन्म-मृत्यु के मार्ग से गुजरने की आवश्यकता नहीं होती।

य एते पितृदेवानामयने वेदनिर्मिते ।

शास्त्रेण चक्षुषा वेद जनस्थोऽपि न मुह्यति ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; एते—इस मार्ग पर (जो ऊपर बताया गया है); पितृ-देवानाम्—पितृयान तथा देवयान नामक; अयने—इस मार्ग पर; वेद-निर्मिते—वेदों में बताये गये; शास्त्रेण—शास्त्रों के नियमित अध्ययन से; चक्षुषा—जाग्रत आँखों से; वेद—पूर्णतया अवगत है; जन-स्थः—शरीर में स्थित व्यक्ति; अपि—यद्यपि; न—कभी नहीं; मुह्यति—मोहग्रस्त होता है।

इस भौतिक शरीर में स्थित रहते हुए भी जो पितृयान तथा देवयान मार्गों से पूर्णतया अवगत रहता है और जिसकी आँखें वैदिक ज्ञान की दृष्टि से इस प्रकार खुली रहती हैं वह भौतिक जगत में कभी मोहग्रस्त नहीं होता।

तात्पर्य : आचार्यवान् पुरुषो वेद—जो व्यक्ति प्रामाणिक गुरु द्वारा मार्गदर्शित होता है, वह वेदों में वर्णित प्रत्येक वस्तु को जानता है क्योंकि वेद ही अच्युत ज्ञान का मानदण्ड स्थापित करते हैं। जैसाकि भगवद्गीता में संस्तुत किया गया है—*तद्विज्ञानार्थं स गुरुम् एवाभिगच्छेत्*—मनुष्य को चाहिए कि आचार्य के पास जाए, तभी उसे पूर्ण ज्ञान प्राप्त होगा। गुरु द्वारा मार्गदर्शन होने पर मनुष्य को जीवन-लक्ष्य की प्राप्ति होती है।

आदावन्ते जनानां सद्बहिरन्तः परावरम् ।

ज्ञानं ज्ञेयं वचो वाच्यं तमो ज्योतिस्त्वयं स्वयम् ॥ ५७ ॥

शब्दार्थ

आदौ—प्रारम्भ में; अन्ते—अन्त में; जनानाम्—सभी जीवों का; सत्—सदैव विद्यमान; बहिः—बाहर; अन्तः—भीतर से; पर—दिव्य; अवरम्—पदार्थ; ज्ञानम्—ज्ञान; ज्ञेयम्—लक्ष्य; वचः—वाणी, अभिव्यक्ति; वाच्यम्—चरम लक्ष्य; तमः—अंधेरा; ज्योतिः—प्रकाश; तु—निस्सन्देह; अयम्—यह (भगवान्); स्वयम्—स्वयं।

जो भीतर बाहर, सभी वस्तुओं तथा जीवों के प्रारम्भ तथा अन्त में, भोग्य तथा भोक्ता के रूप में, उच्च तथा नीच के रूप में विद्यमान है, वह परम सत्य है। वह सदैव ज्ञान तथा ज्ञेय, अभिव्यक्ति तथा अभिज्ञेय, अंधकार तथा प्रकाश के रूप में रहता है। इस तरह वे परमेश्वर सर्वस्व हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर वेदों की इस सूक्ति की व्याख्या की गई है—*सर्वं खल्विदं ब्रह्म । चतुः श्लोकी भागवत* में भी इसकी व्याख्या है। *अहं एवासम् एवाग्रे*। परमेश्वर प्रारम्भ में था, वह सृष्टि के बाद भी रहता है और हर एक का पालन करता है और प्रलय के बाद सब कुछ उसी में लीन हो जाता है जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है (*प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्*)। इस प्रकार परमेश्वर वास्तव में सर्वस्व है। बद्ध अवस्था में हमारी बुद्धि मोहग्रस्त रहती है किन्तु मुक्ति की पूर्णावस्था में हम यह समझ सकते हैं कि कृष्ण ही प्रत्येक वस्तु के कारण हैं।

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः ।

अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम् ॥

“गोविन्द कहे जाने वाले कृष्ण परम नियन्ता हैं। उनका शरीर नित्य, आनन्दमय तथा आध्यात्मिक हैं। वे सबों के उद्गम हैं, किन्तु उनका कोई उद्गम नहीं है क्योंकि वे सभी कारणों के कारण हैं।”

(*ब्रह्म-संहिता* ५.१) यह ज्ञान की पूर्णता है।

आबाधितोऽपि ह्याभासो यथा वस्तुतया स्मृतः ।

दुर्घटत्वादैन्यिकं तद्वदर्थविकल्पितम् ॥ ५८ ॥

शब्दार्थ

आबाधितः—अस्वीकृति; अपि—यद्यपि; हि—निश्चय ही; आभासः—प्रतिबिम्ब; यथा—जिस तरह; वस्तुतया—वास्तविकता के रूप में; स्मृतः—स्वीकृत; दुर्घटत्वात्—वास्तविकता को सिद्ध करना कठिन होने के कारण; ऐन्द्रियकम्—इन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान; तद्वत्—उसी तरह; अर्थ—वास्तविकता; विकल्पितम्—कल्पित या संदेहास्पद।

दर्पण से प्राप्त सूर्य के प्रतिबिम्ब को मिथ्या माना जा सकता है, किन्तु इसका वास्तविक अस्तित्व तो होता ही है। उसी तरह कल्पना (ज्ञान) द्वारा यह सिद्ध करना कि तत्त्व का कोई अस्तित्व नहीं होता अत्यन्त कठिन होगा।

तात्पर्य : निर्विशेषवादी यह सिद्ध करने के प्रयास में रहता है कि मीमांसक का दृष्टि-भेद गलत होता है। निर्विशेषवादी दर्शन, *विवर्तवाद*, सामान्यतः साँप को रस्सी स्वीकार करने का उदाहरण प्रस्तुत करता है। इस उदाहरण के अनुसार हमारी दृष्टि के भेद मिथ्या हैं जिस प्रकार देखी गई रस्सी का सर्प होना मिथ्या है। किन्तु वैष्णव का कहना है कि यद्यपि यह विचार कि रस्सी सर्प है मिथ्या है, किन्तु सर्प मिथ्या नहीं है। मनुष्य को वास्तविक सर्प का अनुभव रहता है, अतएव वह जानता है कि यद्यपि रस्सी को साँप मानना मिथ्या या भ्रामक है, किन्तु साँप वास्तविकता है। इसी प्रकार विविधता से पूर्ण यह जगत मिथ्या नहीं है, यह वैकुण्ठ लोक की वास्तविकता का प्रतिबिम्ब है।

दर्पण में सूर्य का प्रतिबिम्ब अंधकार में प्रकाश ही तो होता है, यद्यपि यह यथार्थतः सूर्य प्रकाश नहीं है, किन्तु सूर्य प्रकाश के बिना प्रतिबिम्ब असम्भव है। इसी प्रकार यदि आध्यात्मिक जगत में वास्तविक मूलाकृति न हो तो इस जगत की नाना विविधताएं असम्भव हो जाँय। मायावादी चिन्तक इसे नहीं समझ सकते, किन्तु असली विचारक को यह विश्वास हो जाना चाहिए कि सूर्य प्रकाश की पृष्ठभूमि के बिना प्रकाश सम्भव नहीं है। इस प्रकार मायावादी चिन्तक द्वारा यह सिद्ध करने का वाग्जाल कि यह भौतिक जगत मिथ्या है अननुभवी बालकों को चकीत कराने वाला लग सकता है, लेकिन पूर्ण ज्ञानी व्यक्ति सही-सही जानता है कि कृष्ण के बिना कोई अस्तित्व नहीं है। अतएव एक वैष्णव कृष्ण को किसी न किसी स्तर पर स्वीकार करने पर बल देता है (*तस्मात् केनाप्युपायेन मनः कृष्णो निवेशयेत्*)।

जब हम कृष्ण के चरणकमलों पर अमिश्रित श्रद्धा रखते हैं, तो सब कुछ प्रकट हो जाता है। कृष्ण ने भी भगवद्गीता (७.१) में कहा है—

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन् मदाश्रयः ।

असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥

“हे पृथापुत्र अर्जुन! अब तुम सुनो कि किस प्रकार मेरी पूर्ण चेतना से योगाभ्यास करके और मन को मुझमें आसक्त करके तुम मुझे पूरी तरह संशय रहित होकर समझ सकते हो।” कृष्ण तथा उनके उपदेशों में अटल विश्वास करने मात्र पर ही वास्तविकता समझ में आ सकती है (*असंशयं समग्रं माम्*)। मनुष्य यह भी जान सकता है कि कृष्ण की भौतिक तथा आध्यात्मिक शक्तियाँ किस तरह कार्य कर रही हैं। वे सर्वत्र किस प्रकार उपस्थित रहते हैं, यद्यपि प्रत्येक वस्तु उनमें नहीं है। यह *अचिन्त्य भेदाभेद* दर्शन वैष्णवों का पूर्ण दर्शन है। प्रत्येक वस्तु कृष्ण से उद्भूत है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रत्येक वस्तु की पूजा की जाय। मानसिक चिन्तन (ज्ञान) हमें वास्तविकता को उसी रूप में नहीं बताता, वह अपूर्ण बनी रहती है। तथाकथित विज्ञानी सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि ईश्वर नहीं है और हर घटना प्रकृति के नियमों के कारण घटती है, किन्तु यह अपूर्ण ज्ञान है, क्योंकि जब तक भगवान् का निर्देशन न हो, कोई भी वस्तु कार्य नहीं कर सकती। इसकी व्याख्या *भगवद्गीता* (९.१०) में स्वयं भगवान् ने की है—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।

हेतुनानेन कौन्तेय जगद् विपरिवर्तते ॥

“हे कुन्तीपुत्र! यह भौतिक प्रकृति मेरे निर्देशन में कार्य करती है और यह समस्त चर तथा अचर प्राणियों को उत्पन्न करती है। यह सृष्टि उसी के नियमानुसार बार बार उत्पन्न होती और विनष्ट होती है।” इस प्रसंग में श्रील मध्वाचार्य की टिप्पणी है— *दुर्घटत्वाद् अर्थत्वेन परमेश्वरेणैव कल्पितम्*। प्रत्येक वस्तु का आधार भगवान् वासुदेव हैं। *वासुदेवः सर्वम् इति स महात्मा सुदुर्लभः*। इसे वही महात्मा समझ सकता है, जो पूर्ण ज्ञानी होता है। ऐसा महात्मा विरले ही दिखता है।

क्षित्यादीनामिहार्थानां छाया न कतमापि हि ।

न सङ्घातो विकारोऽपि न पृथङ्नान्वितो मृषा ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ

क्षिति-आदीनाम्—पृथ्वी आदि पाँच तत्त्वों का; इह—इस संसार में; अर्थानाम्—उन पाँचों तत्त्वों का; छाया—प्रतिबिम्ब; न—न तो; कतमा—इनमें से कौन; अपि—निस्सन्देह; हि—निश्चय ही; न—न तो; सङ्घातः—संयोग; विकारः—रूपान्तर; अपि—यद्यपि; न पृथक्—भिन्न नहीं; न अन्वितः—न तो निहित; मृषा—ये सब सिद्धान्त निरर्थक हैं।

इस जगत में पाँच तत्त्व हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश। किन्तु शरीर न तो उनका प्रतिबिम्ब है, न उनका संयोग या उनका रूपान्तर। चूँकि शरीर तथा इसके अवयव न तो पृथक्-पृथक् हैं, न मिश्रित अतएव ऐसे सारे सिद्धान्त निराधार हैं।

तात्पर्य : जंगल पृथ्वी का विकार अवश्य है, किन्तु एक वृक्ष दूसरे वृक्ष पर आश्रित नहीं होता। यदि उनमें से एक काट दिया जाता है, तो इसका अर्थ यह नहीं है कि दूसरा वृक्ष भी कट गया। अतएव जंगल न तो वृक्षों का संयोग है, न विकार। इसकी सर्वश्रेष्ठ व्याख्या स्वयं कृष्ण ने की है—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्त मूर्तिना।

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥

“यह समग्र ब्रह्माण्ड मेरे अव्यक्त रूप से व्याप्त है। सारे जीव मुझमें हैं लेकिन मैं उनमें नहीं हूँ।” (भगवद्गीता ९.४) हर वस्तु कृष्ण की शक्ति का विस्तार है। जैसाकि कहा गया है—*परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते*—भगवान् की विविध शक्तियाँ होती हैं, जो विभिन्न प्रकारों से व्यक्त होती हैं। शक्तियों का अस्तित्व है और भगवान् भी साथ-साथ विद्यमान रहते हैं। चूँकि हर वस्तु उनकी शक्ति है अतएव वे एकसाथ हर वस्तु से अभिन्न हैं और हर वस्तु से भिन्न भी हैं। इस प्रकार हमारे द्वारा कल्पित यह सिद्धान्त कि आत्मा पदार्थ का संयोग है और पदार्थ आत्मा का रूपान्तर (विकार) है या यह कि शरीर आत्मा का अंश है निराधार है।

चूँकि भगवान् की सभी शक्तियाँ एकसाथ विद्यमान रहती हैं, अतएव मनुष्य को चाहिए कि भगवान् को समझे। यद्यपि वे हर वस्तु हैं, किन्तु वे हर वस्तु में उपस्थित नहीं रहते। ईश्वर की पूजा उनके मूल कृष्ण रूप में की जानी चाहिए। वे अपनी विभिन्न विस्तृत शक्तियों के अंश रूप में भी विद्यमान रह सकते हैं। जब हम मन्दिर में भगवान् के अर्चाविग्रह की पूजा करते हैं, तो यह अर्चाविग्रह पत्थर या लकड़ी लगता है। लेकिन चूँकि भगवान् का शरीर भौतिक नहीं होता, अतएव वे न तो पत्थर हैं न लकड़ी; फिर भी पत्थर तथा लकड़ी उनसे भिन्न नहीं होते। इस तरह पत्थर या लकड़ी की पूजा करने से हमें कोई फल नहीं प्राप्त होता, किन्तु जब पत्थर या लकड़ी को भगवान् के मूल रूप का प्रतिनिधित्व मान लिया जाता है, तो उस अर्चाविग्रह की पूजा करने से हमें वांछित फल प्राप्त होता है।

इसकी पुष्टि श्री चैतन्य महाप्रभु के अचिन्त्यभेदाभेद दर्शन द्वारा होती है, जो यह बताता है कि भगवान् अपने को अपनी शक्ति के रूप में भक्त की सेवा ग्रहण करने के लिए कहीं भी उपस्थित कर सकते हैं।

धातवोऽवयवित्वाच्च तन्मात्रावयवैर्विना ।

न स्युर्हासत्यवयविन्यसन्नवयवोऽन्ततः ॥ ६० ॥

शब्दार्थ

धातवः—पाँचों तत्त्व; अवयवित्वात्—देहात्मबुद्धि का कारण होने से; च—तथा; तत्-मात्र—इन्द्रियविषय (ध्वनि, स्वाद, स्पर्श आदि); अवयवैः—अंगों से; विना—रहित; न—नहीं; स्युः—विद्यमान रह सकता है; हि—निस्सन्देह; असति—मिथ्या, झूठा; अवयविनि—शरीर के निर्माण में; असन्—न रहते हुए; अवयवः—शरीर का अंग; अन्ततः—अन्त में।

चूँकि शरीर पाँच तत्त्वों से बना है अतएव यह सूक्ष्म इन्द्रियविषयों के बिना अस्तित्व में नहीं रह सकता। चूँकि शरीर मिथ्या है, अतएव इन्द्रियविषय भी स्वभावतः मिथ्या या क्षणिक हैं।

स्यात्सादृश्यभ्रमस्तावद्विकल्पे सति वस्तुनः ।

जाग्रत्स्वापौ यथा स्वप्ने तथा विधिनिषेधता ॥ ६१ ॥

शब्दार्थ

स्यात्—हो; सादृश्य—समानता; भ्रमः—भूल, त्रुटि; तावत्—तब तक; विकल्पे—अलग से; सति—अंश; वस्तुनः—वस्तु से; जाग्रत्—जगा हुआ; स्वापौ—सोता हुआ; यथा—जिस तरह; स्वप्ने—स्वप्न में; तथा—उसी तरह; विधि-निषेधता—आदेशों तथा निषेधों से युक्त विधान।

जब किसी वस्तु को उसके अंशों से पृथक् कर दिया जाता है, तो उनमें समानता (सादृश्य) मानना भ्रम (मोह) कहलाता है। स्वप्न देखते समय मनुष्य जागने तथा सोने की स्थितिओं में अन्तर उत्पन्न कर देता है। ऐसी मानसिक अवस्था में शास्त्रों के विधानों की, जो आदेशों तथा निषेधों के रूप में होते हैं, संस्तुति की जाती है।

तात्पर्य : इस जगत में अनेक विधान तथा शिष्टाचार हैं। यदि यह जगत नश्वर या मिथ्या है, तो इसका यह अर्थ नहीं होता कि आध्यात्मिक जगत समान होते हुए भी मिथ्या है। यदि किसी का भौतिक शरीर मिथ्या या नश्वर है, तो इसका अर्थ यह नहीं है कि भगवान् का शरीर भी मिथ्या या नश्वर है। आध्यात्मिक जगत सत्य (सही) है और भौतिक जगत इसी के समान है। उदाहरणार्थ, रेगिस्तान में मृग-मरीचिका पाई जाती है और चूँकि इसका जल मिथ्या है, चूँकी इसका यह अर्थ नहीं है कि जल वास्तविकता नहीं है। जल का अस्तित्व है, किन्तु रेगिस्तान में नहीं। इसी प्रकार इस भौतिक जगत में

कुछ भी सत्य नहीं है, किन्तु सत्यता (वास्तविकता) तो आध्यात्मिक जगत में होती है। भगवान् का स्वरूप तथा उनका धाम—गोलोक वृन्दावन—शाश्वत वास्तविकताएँ हैं।

भगवद्गीता से हम जानते हैं कि एक अन्य प्रकृति है, जो वास्तविक (सत्य) है। इसकी व्याख्या स्वयं भगवान् ने भगवद्गीता के आठवें अध्याय (८.१९-२१) में की है—

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।

रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात् सनातनः ।

यःस सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तम् आहुः परमां गतिं ।

यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥

“ब्रह्मा का दिन पुनः-पुनः आता है और सारे जीव चैतन्य हो उठते हैं। तब फिर से रात हो जाती है और वे निस्सहाय होकर विनष्ट हो जाते हैं। लेकिन इसके अतिरिक्त एक प्रकृति और भी है, जो शाश्वत है और इस व्यक्त तथा अव्यक्त पदार्थ के परे है। यह परम है और कभी विनष्ट नहीं होती। जब इस जगत का सब कुछ विनष्ट हो जाता है, तो यह अंश उसी तरह बना रहता है। यह परम धाम अव्यक्त तथा अच्युत कहलाता है और यही चरम गन्तव्य है। जब कोई वहाँ जाता है, तो लौट कर नहीं आता। यही मेरा परम धाम है।” यह भौतिक जगत आध्यात्मिक जगत का प्रतिबिम्ब है। भौतिक जगत नाशवान या मिथ्या है, किन्तु आध्यात्मिक जगत शाश्वत सत्य है।

भावाद्वैतं क्रियाद्वैतं द्रव्याद्वैतं तथात्मनः ।

वर्तयन्स्वानुभूत्येह त्रीन्स्वप्नान्धुनुते मुनिः ॥ ६२ ॥

शब्दार्थ

भाव-अद्वैतम्—देहात्म-बुद्धि में एकत्व; क्रिया-अद्वैतम्—कर्म में एकत्व; द्रव्य-अद्वैतम्—विभिन्न सामग्री में एकत्व; तथा—और; आत्मनः—आत्मा का; वर्तयन्—विचार करते हुए; स्व—अपना; अनुभूत्या—अनुभूति के अनुसार; इह—इस भौतिक जगत में; त्रीन्—तीन; स्वप्नान्—जीवित दशाएँ (जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति); धुनुते—त्याग देता है; मुनिः—दार्शनिक या चिन्तक ।

भाव, क्रिया तथा द्रव्य की अद्वैतता (एकत्व) पर विचार करने के बाद तथा आत्मा को समस्त कार्य-कारणों से पृथक् मानते हुए मुनि अपनी ही अनुभूति से जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं को त्याग देता है।

तात्पर्य : अगले श्लोकों में भावाद्वैत, क्रियाद्वैत तथा द्रव्याद्वैत की व्याख्या दी गई है। किन्तु मनुष्य को भौतिक जगत में दार्शनिक जीवन की सारी अद्वैतताएँ छोड़नी पड़ती हैं और सिद्धि प्राप्त करने के लिए आध्यात्मिक जगत के वास्तविक जीवन को प्राप्त करना होता है।

कार्यकारणवस्त्वैक्यदर्शनं पटतन्तुवत् ।
अवस्तुत्वाद्विकल्पस्य भावाद्वैतं तदुच्यते ॥ ६३ ॥

शब्दार्थ

कार्य—फल या प्रभाव; कारण—कारण; वस्तु—वस्तु; ऐक्य—एकत्व; दर्शनम्—देखना; पट—वस्त्र; तन्तु—डोरा, सूत; वत्—सदृश; अवस्तुत्वात्—अवास्तविक होने से; विकल्पस्य—विकल्प का; भाव-अद्वैतम्—एकत्व का भाव; तत् उच्यते—वह कहलाता है।

जब मनुष्य यह समझता है कि फल तथा कारण एक हैं और द्वैत अन्ततः इस विचार की भाँति अवास्तविक है कि वस्त्र के धागे वस्त्र से भिन्न हैं, तो वह एकत्व के मान को प्राप्त होता है, जिसे भावाद्वैत कहते हैं।

यद्ब्रह्मणि परे साक्षात्सर्वकर्मसमर्पणम् ।
मनोवाक्तनुभिः पार्थ क्रियाद्वैतं तदुच्यते ॥ ६४ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो; ब्रह्मणि—परब्रह्म में; परे—दिव्य; साक्षात्—प्रत्यक्ष; सर्व—समस्त; कर्म—कर्म; समर्पणम्—निवेदन, समर्पण; मनः—मन से; वाक्—वाणी से; तनुभिः—तथा शरीर से; पार्थ—हे महाराज युधिष्ठिर; क्रिया-अद्वैतम्—कर्म का एकत्व; तत् उच्यते—वह कहलाता है।

हे युधिष्ठिर (पार्थ), जब मनुष्य के मन, वाणी तथा शरीर द्वारा किये गये सारे कार्य साक्षात् भगवान् की सेवा में समर्पित किये जाते हैं, तो उसे क्रियाद्वैत नामक कर्मों का एकत्व प्राप्त होता है।

तात्पर्य : कृष्णभावनामृत आन्दोलन लोगों को सिखाता है कि किस प्रकार प्रत्येक वस्तु को भगवान् की सेवा में समर्पित कर देने के स्तर तर पहुँचा जाये। कृष्ण ने भगवद्गीता (९.२७) में कहा है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।

यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

“हे कुन्तीपुत्र! तुम जो भी करो, जो भी खाओ, जो भी आहुति दो तथा दान में दो तथा जो भी तपस्या करो वह सब मुझे भेंट रूप में समर्पित होनी चाहिए।” हम जो भी करते हैं, जो भी खाते हैं, जो भी सोचते तथा जो भी योजना बनाते हैं, यदि वह सब कृष्णभावनामृत आन्दोलन की प्रगति के लिए हो तो यह अद्वैत है। कृष्ण के नाम-कीर्तन तथा कृष्णभावनामृत के लिए कार्य करने में कोई अन्तर नहीं है। दिव्य पद पर ये एक हैं। किन्तु इस अद्वैत के विषय में हमें अपने गुरु से मार्ग-दर्शन प्राप्त करना चाहिए; हमें अपनी अद्वैतता नहीं बनानी चाहिए।

आत्मजायासुतादीनामन्येषां सर्वदेहिनाम् ।

यत्स्वार्थकामयोरैक्यं द्रव्याद्वैतं तदुच्यते ॥ ६५ ॥

शब्दार्थ

आत्म—अपनी; जाया—पत्नी; सुत-आदीनाम्—तथा सन्तानों का; अन्येषाम्—अपने सम्बन्धियों का.; सर्व-देहिनाम्—समस्त जीवों का; यत्—जो भी; स्व-अर्थ-कामयोः—अपने चरम लक्ष्य तथा लाभ का; ऐक्यम्—एकत्व, अद्वैत; द्रव्य-अद्वैतम्—स्वार्थ का एकत्व; तत् उच्यते—कहा जाता है।

जब किसी मनुष्य का चरम लक्ष्य अपना तथा अपनी पत्नी का, अपनी सन्तानों का, अपने सम्बन्धियों का तथा अन्य समस्त देहधारियों का स्वार्थ एक ही हो तो यह द्रव्याद्वैत कहलाता है।

तात्पर्य : सारे जीवों की वास्तविक रुचि—जीवन-लक्ष्य—भगवद्धाम जाने में होती है। यही अपनी, अपनी पत्नी की, अपने बच्चों की, अपने शिष्यों की तथा अपने मित्रों, सम्बन्धियों, देशवासियों तथा सारी मानवता की रुचि होती है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन व्यवस्था के ऐसे आदेश दे सकता है, जिससे प्रत्येक मनुष्य कृष्णभावनाभावित कार्यों में भाग ले सके और चरम लक्ष्य तक पहुँच सके जो स्वार्थगतिम् कहलाता है। प्रत्येक व्यक्ति की रुचि का लक्ष्य विष्णु है, लेकिन चूँकि लोग इसे नहीं जानते (न ते विदुः स्वार्थगतिम् हि विष्णुम्), अतएव वे जीवन के अनेक कल्पित स्वार्थों को पूरा करने की विविध योजनाएँ बनाते रहते हैं। कृष्णभावनामृत आन्दोलन हर एक को चरम स्वार्थ तक लाने का प्रयास कर रहा है। इस विधि का नाम भले ही भिन्न-भिन्न हो किन्तु यदि लक्ष्य एक ही हो तो लोगों को चाहिए कि जीवन का चरम लक्ष्य प्राप्त करने के लिए इसका पालन करें। दुर्भाग्यवश लोग विभिन्न स्वार्थों के विषय में सोचते हैं और अंधे नेता उन्हें दिग्भ्रमित कर रहे हैं। प्रत्येक व्यक्ति पूर्ण भौतिक

सुख के लक्ष्य तक पहुँचने का प्रयत्न कर रहा है, किन्तु लोग पूर्ण सुख को न जानने के कारण विभिन्न भौतिक स्वार्थों की ओर मुड़ जाते हैं।

यद्यस्य वानिषिद्धं स्याद्येन यत्र यतो नृप ।
स तेनेहेत कार्याणि नरो नान्यैरनापदि ॥ ६६ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो भी; यस्य—मनुष्य का; वा—या तो; अनिषिद्धम्—जिसकी मनाही न हो; स्यात्—ऐसा हो; येन—जिससे; यत्र—स्थान तथा समय में; यतः—जिससे; नृप—हे राजा; सः—ऐसा व्यक्ति; तेन—ऐसी विधि से; ईहेत—सम्पन्न करे; कार्याणि—नियत कार्यकलाप; नरः—मनुष्य; न—नहीं; अन्यैः—दूसरी विधियों से; अनापदि—संकट की अनुपस्थिति में।

हे राजा युधिष्ठिर, संकट न रहने पर सामान्य परिस्थितियों में मनुष्य को चाहिए कि वह अपने जीवन-स्तर के अनुसार नियत कार्यकलापों को ऐसी वस्तुओं, प्रयासों तथा विधियों से सम्पन्न करे तथा ऐसे स्थानों पर निवास करे जो उसके लिए निषिद्ध न हों। वह अन्य विधियों का उपयोग न करे।

तात्पर्य : यह उपदेश सभी जीवन स्तरों वाले पुरुषों के लिए दिया गया है। सामान्य तथा समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ, संन्यासी तथा गृहस्थ में विभाजित है। हर एक को अपने पद के अनुसार कर्म करना चाहिए और भगवान् को प्रसन्न करने का प्रयास करना चाहिए क्योंकि इससे जीवन सफल बनेगा। इसका उपदेश नैमिषारण्य में दिया गया था—

अतः पुम्भिर्द्विजश्रेष्ठा वर्णाश्रमविभागशः ।

स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम् ॥

“हे द्विजश्रेष्ठ! अतएव यह निष्कर्ष निकलता है कि मनुष्य द्वारा अपने नियत कर्तव्यों (धर्म) का निर्वाह जाति तथा आश्रम के अनुसार करने से जो उच्चतम सिद्धि प्राप्त की जा सकती है, वह भगवान् हरि को प्रसन्न करना है।” (भागवत १.२.१३) प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि भगवान् को प्रसन्न करने के लिए अपने वृत्तिपरक कर्तव्यों के अनुसार कर्म करे। तभी प्रत्येक व्यक्ति सुखी हो सकेगा।

एतैरन्यैश्च वेदोक्तैर्वर्तमानः स्वकर्मभिः ।
गृहेऽप्यस्य गतिं यायाद्राजंस्तद्भक्तिभाङ्गरः ॥ ६७ ॥

शब्दार्थ

एतैः—इन विधियों से; अन्यैः—अन्य विधियों से; च—तथा; वेद-उक्तैः—जैसा वैदिक वाङ्मय में निर्देश है; वर्तमानः—पालन करते हुए; स्व-कर्मभिः—अपने वृत्तिपरक कर्तव्य से; गृहे अपि—घर पर भी; अस्य—भगवान् कृष्ण के; गतिम्—गन्तव्य; यायात्—पहुँच सकता है; राजन्—हे राजा; तत्-भक्ति-भाक्—भगवान् की भक्ति करने वाला; नरः—व्यक्ति।

हे राजा, मनुष्य को अपने वृत्तिपरक कर्तव्य इन निर्देशों तथा वैदिक ग्रन्थों में दिए गये अन्य निर्देशों के अनुसार सम्पन्न करने चाहिए जिससे वह भगवान् कृष्ण का भक्त बना रहे। इस प्रकार घर पर रहकर भी मनुष्य अपने गन्तव्य तक पहुँच सकता है।

तात्पर्य : जीवन का परम लक्ष्य विष्णु या कृष्ण हैं। अतएव यदि कोई वैदिक अनुष्ठानों या भौतिकतावादी कार्यकलापों के द्वारा कृष्ण रूपी गन्तव्य तक पहुँचने का प्रयास करता है, तो यह जीवनसिद्धि है। उसे कृष्ण को लक्ष्य बनाना चाहिए और जीवन के किसी भी स्तर से कृष्ण के पास पहुँचने का प्रयत्न करना चाहिए।

कृष्ण को सभी की सेवा स्वीकार है। *भगवद्गीता* (९.३२) में भगवान् कहते हैं—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।

स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि च यान्ति परां गतिम् ॥

“हे पृथापुत्र! जो लोग मेरी शरण ग्रहण करते हैं, वे भले ही निम्न जन्म वाले हों—स्त्रियाँ, वैश्य तथा शूद्र हों—वे परम धाम तक पहुँच सकते हैं।” चाहे किसी कोई भी पद क्यों न हो, यदि कोई गुरु के आदेशानुसार अपना वृत्तिपरक कर्तव्य करता हुआ कृष्ण तक पहुँचने का प्रयास करता है, तो उसका जीवन सफल है। ऐसा नहीं है कि संन्यासी, वानप्रस्थ तथा ब्रह्मचारी ही कृष्ण के पास तक जा सकते हैं। गृहस्थ भी कृष्ण के पास पहुँच सकता है बशर्ते कि वह निष्काम भाव से शुद्ध भक्त बने। इसका एक उदाहरण अगले श्लोक में उद्धृत है।

यथा हि यूयं नृपदेव दुस्त्यजा-

दापद्गणादुत्तरतात्मनः प्रभोः ।

यत्पादपङ्केरुहसेवया भवा-

नहारषीन्निर्जितदिग्गजः क्रतून् ॥ ६८ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; हि—निस्सन्देह; यूयम्—तुम सभी (पाण्डव); नृप-देव—हे राजाओं, मनुष्यों तथा देवताओं के स्वामी; दुस्त्यजात्—अजेय; आपत्—सङ्कटपूर्ण स्थितियाँ; गणात्—सबों से; उत्तरत—बच निकले; आत्मनः—अपना; प्रभोः—भगवान् का; यत्-पाद-पङ्केरुह—जिनके चरणकमल; सेवया—सेवा करने से; भवान्—आपने; अहारषीत्—सम्पन्न किया; निर्जित—हराकर; दिक्-गजः—हाथियों जैसे अत्यन्त शक्तिशाली शत्रु; क्रतून्—अनुष्ठान।

हे राजा युधिष्ठिर, तुम सभी पाण्डवों ने परमेश्वर की सेवा के कारण अनेक राजाओं तथा देवताओं द्वारा उत्पन्न बड़े से बड़े संकटों पर विजय प्राप्त कर ली। तुमने कृष्ण के चरणकमलों की सेवा करके हाथियों के समान बड़े-बड़े शत्रुओं को जीत लिया है और अपने यज्ञ के लिए सामग्री एकत्र की है। भगवत्कृपा से तुम भव-बन्धन से छूट जाओगे।

तात्पर्य : महाराज युधिष्ठिर ने अपने को सामान्य गृहस्थ के रूप में प्रस्तुत करते हुए नारद मुनि से पूछा कि *गृहमूढधी*—गृहस्थ जीवन में फँस कर मूर्ख बना रहने वाले व्यक्ति—का उद्धार किस तरह हो सकता है। नारद मुनि ने यह कहते हुए महाराज युधिष्ठिर को प्रोत्साहित किया, “तुम सुरक्षित हो, क्योंकि तुम अपने सारे परिवार सहित कृष्ण के शुद्ध भक्त बन चुके हो।” कृष्ण की कृपा से पाण्डवों ने कुरुक्षेत्र का युद्ध जीत लिया था और बड़े-बड़े राजाओं तथा कभी कभी देवताओं के द्वारा भी उत्पन्न किये गये संकटों से अपने को बचा लिया था। इस प्रकार वे इसके जीते-जागते उदाहरण हैं कि कृष्ण की कृपा से किस प्रकार सुरक्षित रहा जा सकता है। हर व्यक्ति को पाण्डवों के उदाहरण का अनुकरण करना चाहिए जिन्होंने यह दिखलाया कि किस प्रकार कृष्ण की कृपा से बचा जा सकता है। हमारे कृष्णभावनामृत आन्दोलन का उद्देश्य यह शिक्षा देना है कि हर व्यक्ति किस तरह इस जगत में शान्तिपूर्वक रह सकता है और अन्त में भगवद्धाम वापस जा सकता है। भौतिक जगत में पद-पद पर विपत्तियाँ हैं (*पदं पदं यद्विपदां न तेषाम्*) फिर भी यदि कोई निःसंकोच भाव से कृष्ण की शरण ग्रहण करके उसी में रहता जाता है, तो वह सरलता से अज्ञान-सागर को पार कर सकता है। *समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवं महत् पदं पुण्ययशो मुरारेः* । भक्त के लिए यह विशाल अज्ञान-सागर गोखुर में लगे कीचड़ की तरह है। शुद्ध भक्त तरह-तरह से ऊपर उठने के प्रयास की चिन्ता न करता हुआ कृष्ण के दास के सुरक्षित पद पर बना रहता है और इस प्रकार उसका जीवन शाश्वत रूप से निस्सन्देह, सुरक्षित रहता है।

अहं पुराभवं कश्चिद्गन्धर्व उपबर्हणः ।

नाम्नातीते महाकल्पे गन्धर्वाणां सुसम्मतः ॥ ६९ ॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; पुरा—पूर्वजन्म में; अभवम्—था; कश्चित् गन्धर्वः—गन्धर्वलोक के निवासी के रूप में; उपबर्हणः—उपबर्हण;
नाम्ना—नाम से; अतीते—बहुत काल पूर्व; महा-कल्पे—ब्रह्मा के जीवन में जो महाकल्प कहलाता है; गन्धर्वाणाम्—गन्धर्वों
में; सु-सम्मतः—अत्यन्त सम्मानित व्यक्ति।

बहुत समय पूर्व, एक अन्य महाकल्प (ब्रह्मा का युग) में मैं उपबर्हण नामक गन्धर्व के रूप में था। अन्य गन्धर्वों में मेरा अत्यधिक सम्मान था।

तात्पर्य : श्री नारद मुनि अपने विगत जीवन से व्यावहारिक उदाहरण दे रहे हैं। ब्रह्मा के पूर्वजीवन काल में नारदमुनि गन्धर्व लोक के वासी थे, किन्तु दुर्भाग्य से वे गन्धर्व लोक जहां के निवासी अत्यन्त सुन्दर तथा कुशल गायक होते हैं, के इस उच्च स्थान से गिर गये और शूद्र बने, जैसाकि आगे बताया जाएगा। फिर भी भक्तों की संगति करने से वे गन्धर्व लोक से भी अधिक भाग्यवान् निकले। यद्यपि प्रजापतियों ने उन्हें शूद्र बनने का श्राप दिया था, किन्तु अगले जन्म में वे ब्रह्माजी के पुत्र बने।

श्रील मध्वाचार्य ने महाकल्पे शब्द को अतीत ब्रह्मकल्पे के रूप में ग्रहण किया है। ब्रह्मा की मृत्यु कई लाख वर्षों बाद होती है। ब्रह्मा के एक दिन का वर्णन भगवद्गीता (८.१७) में हुआ है—

सहस्रयुगपर्यन्तम् अहर्यद् ब्रह्मणो विदुः ।

रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥

“मनुष्य की गणना से ब्रह्मा का एक दिन एक हजार युगों के योग के बराबर होता है। और इतनी ही लम्बी उनकी रात्रि भी होती है।” भगवान् श्रीकृष्ण लाखों वर्ष पूर्व की घटनाओं को स्मरण रख सकते हैं। इसी प्रकार नारद मुनि जैसे उनके शुद्ध भक्त भी लाखों वर्ष पुराना जीवन याद रख सकते हैं।

रूपपेशलमाधुर्यसौगन्ध्यप्रियदर्शनः ।

स्त्रीणां प्रियतमो नित्यं मत्तः स्वपुरलम्पटः ॥ ७० ॥

शब्दार्थ

रूप—सौन्दर्य; पेशल—शरीर की बनावट; माधुर्य—आकर्षण; सौगन्ध्य—फूलों की मालाओं तथा चन्दन लेप से अलंकृत होने से अत्यन्त सुगन्धित; प्रिय-दर्शनः—देखने में अत्यन्त सुन्दर; स्त्रीणाम्—स्त्रियों का; प्रिय-तमः—सहज भाव से आकृष्ट; नित्यम्—प्रतिदिन; मत्तः—पागल की तरह गर्वित; स्व-पुर—अपने शहर में; लम्पटः—कामेच्छा के कारण स्त्रियों के प्रति अत्यधिक आसक्त।

मेरा मुखमण्डल सुन्दर था और मेरी शारीरिक रचना आकर्षक तथा सुहावनी थी। फूल के हारों से तथा चन्दन लेप से अलंकृत होने से मैं अपने नगर की स्त्रियों को अत्यन्त मोहक लगता था। इस तरह मैं मोहग्रस्त था और विषय-वासनाओं से सदैव पूर्ण रहता था।

तात्पर्य : जब नारद गन्धर्व लोक के निवासी थे उस समय की उनकी सुन्दरता के वर्णन से ऐसा लगता है कि उस लोक का प्रत्येक व्यक्ति अत्यन्त सुन्दर तथा फूलों और चन्दन से अलंकृत रहता था। नारद मुनि का पहले का नाम उपबर्हण था। उपबर्हण अपने आपको अलंकृत करके स्त्रियों का ध्यान आकृष्ट करने में पटु था, फलतः जैसे अगले श्लोक में वर्णित है, वह एक रसिक हो गया। इस जीवन में रसिक होना दुर्भाग्यपूर्ण हैं क्योंकि स्त्रियों की ओर अत्यधिक आकृष्ट होने से वह शूद्र की संगति में जा गिरता है, जिसे स्त्रियों से बिना रोक-टोक मिलने का लाभ लिया जाता है। इस कलियुग में, जब सारे लोग *मन्दाः सुमन्दमतयः* हैं—शूद्र प्रवृत्ति के कारण अत्यन्त बुरे हैं—ऐसा स्वतंत्र मिलना-जुलना प्रधान रहता है। उच्चतर जातियों—ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्यों में स्त्रियों के साथ पुरुषों का मुक्त मिलना-जुलना सम्भव नहीं है, किन्तु शूद्रों में इसकी छूट है। चूँकि इस कलियुग में कोई सांस्कृतिक शिक्षा नहीं दी जाती, अतएव हर व्यक्ति आध्यात्मिक रूप से प्रशिक्षित नहीं है और इसीलिए वह शूद्र माना जाता है (*अशुद्धाः शूद्रकल्पा हि ब्राह्मणाः कलिसम्भवाः*)। जब सारे लोग शूद्र हो जाते हैं, तो यह बहुत बुरे हो जाते हैं। (*मन्दाः सुमन्दमतयः*) इस प्रकार वे अपनी जीवन-शैली बनाते हैं और इसका परिणाम यह निकलता है कि वे क्रमशः अभागे बन जाते हैं (*मन्दभाग्याः*) और विभिन्न परिस्थितियों द्वारा विचलित होते रहते हैं।

एकदा देवसत्रे तु गन्धर्वाप्सरसां गणाः ।
उपहृता विश्वसृग्भिर्हरिगाथोपगायने ॥ ७१ ॥

शब्दार्थ

एकदा—एक बार; देव-सत्रे—देवताओं की सभा में; तु—निस्सन्देह; गन्धर्व—गन्धर्व लोक के वासी; अप्सरसाम्—तथा अप्सरलोक के वासियों के; गणाः—सभी; उपहृताः—बुलाये गये थे; विश्व-सृग्भिः—प्रजापति नामक बड़े-बड़े देवताओं द्वारा; हरि-गाथ-उपगायने—भगवान् की महिमा गायन के कीर्तन के समय।

एक बार देवताओं की सभा में भगवान् की महिमा के गायन के लिए एक संकीर्तन किया गया जिसमें गन्धर्वों तथा अप्सराओं को भाग लेने के लिए प्रजापतियों ने आमंत्रित किया।

तात्पर्य : *सङ्कीर्तन* का अर्थ है भगवान् के पवित्र नाम का जाप करना। हरे कृष्ण आन्दोलन कोई नवीन आन्दोलन नहीं जैसाकि लोग कभी-कभी भ्रमवश सोचते हैं। हरे कृष्ण आन्दोलन ब्रह्माजी के जीवन के प्रत्येक युग में विद्यमान रहा है और पवित्र नाम का कीर्तन ब्रह्मलोक तथा चन्द्रलोक समेत सभी उच्च लोकों में किया जाता है, गन्धर्व लोक तथा अप्सरालोक की बात का तो कहना ही क्या?

अतएव आज से पाँच सौ वर्ष पूर्व इस संसार में श्री चैतन्य महाप्रभु द्वारा शुरू किया गया संकीर्तन आन्दोलन कोई नया आन्दोलन नहीं है। कभी-कभी हमारे दुर्भाग्यवश यह आन्दोलन रोक दिया जाता है, लेकिन श्री चैतन्य महाप्रभु तथा उनके सेवकों ने समग्र विश्व के या यूँ कहें, समग्र ब्रह्माण्ड के लाभ के लिए इस आन्दोलन को फिर से चालू किया।

अहं च गायंस्तद्विद्वान्स्त्रीभिः परिवृतो गतः ।
ज्ञात्वा विश्वसृजस्तन्मे हेलनं शेषुरोजसा ।
याहि त्वं शूद्रतामाशु नष्टश्रीः कृतहेलनः ॥ ७२ ॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; च—तथा; गायन्—भगवान् की महिमा का गायन न करके अन्य देवताओं का गायन करते हुए; तत्-विद्वान्—गाने की कला में निपुण; स्त्रीभिः—स्त्रियों द्वारा; परिवृतः—घिरा हुआ; गतः—वहाँ गया; ज्ञात्वा—अच्छी तरह जानते हुए; विश्व-सृजः—प्रजापति, जिन्हें ब्रह्माण्ड की व्यवस्था सौंपी गई है; तत्—मेरे गायन की प्रवृत्ति; मे—मेरी; हेलनम्—उपेक्षा; शेषुः—शाप दे दिया; ओजसा—बड़े वेग से; याहि—बन जाओ; त्वम्—तुम; शूद्रताम्—शूद्र; आशु—शीघ्र; नष्ट—रहित; श्रीः—सौन्दर्य; कृत-हेलनः—शिष्टाचार भंग करने के कारण।

नारद मुनि ने आगे कहा : उत्सव में बुलाये जाने पर मैं भी वहाँ गया। स्त्रियों से घिर कर मैंने देवताओं की महिमा का संगीतात्मक गायन प्रारम्भ किया। इसके कारण प्रजापितयों ने मुझे इन शब्दों में बलात् शाप दे डाला “चूँकि तुमने अपराध किया है अतएव तुम तुरन्त सौन्दर्य से विहीन शूद्र बन जाओ।”

तात्पर्य : कीर्तन के सम्बन्ध में शास्त्रों का कथन है—श्रवणं कीर्तनं विष्णोः—मनुष्य को भगवान् का यश तथा उनके पवित्र नाम का कीर्तन करना चाहिए। स्पष्ट कहा गया है—श्रवणं कीर्तनं विष्णोः—मनुष्य को विष्णु का गुणगान करना चाहिए, अन्य किसी देवता का नहीं। दुर्भाग्यवश कुछ ऐसे मूर्ख लोग होते हैं, जो किसी देवता के नाम पर कीर्तन की कोई विधि निकाल लेते हैं। यह अपराध है। कीर्तन का अर्थ है भगवान् का यशोगान, न कि अन्य किसी देवता का। कभी-कभी लोग काली कीर्तन तथा शिव कीर्तन का निर्माण करते हैं और बड़े-बड़े मायावादी संन्यासियों तक का कहना है कि कोई चाहे किसी नाम का कीर्तन करे, उसे वही फल मिलेगा। किन्तु यहाँ हम देखते हैं कि लाखों-लाखों वर्ष पूर्व जब नारद मुनि एक गन्धर्व थे तो उन्होंने भगवान् के यशोगान के आदेश की उपेक्षा की थी और वे स्त्रियों की संगति में प्रमत्त होकर कुछ उल्टा गाने लगे थे जिससे उन्हें शूद्र बनने का शाप दिया गया। उनका प्रथम अपराध था कि वे कामुक स्त्रियों के साथ संकीर्तन मंडली में गये और दूसरा

अपराध था कि उन्होंने सामान्य गीतों को, जैसे कि सिनेमा गीतों को, या ऐसे ही अन्य गीतों को संकीर्तन के बराबर मान्यता दी। इस अपराध के लिए उन्हें शूद्र बनने का शाप दिया गया।

तावद्दास्यामहं जज्ञे तत्रापि ब्रह्मवादिनाम् ।
शुश्रूषयानुषङ्गेण प्राप्तोऽहं ब्रह्मपुत्रताम् ॥ ७३ ॥

शब्दार्थ

तावत्—शाप दिये जाने के समय से; दास्याम्—दासी के गर्भ में; अहम्—मैंने; जज्ञे—जन्म लिया; तत्रापि—यद्यपि (शूद्र होकर); ब्रह्म-वादिनाम्—वैदिक ज्ञान में पारंगत लोगों की; शुश्रूषया—सेवा करके; अनुषङ्गेण—एक ही समय; प्राप्तः—प्राप्त किया; अहम्—मैंने; ब्रह्म-पुत्रताम्—ब्रह्मा के पुत्र के रूप में जन्म (इस जन्म में)।

यद्यपि मैंने एक दासी के गर्भ से शूद्र के रूप में जन्म लिया किन्तु मैं वैदिक ज्ञान में पारंगत वैष्णवों की सेवा में लग गया। फलस्वरूप इस जीवन में मुझे ब्रह्माजी के पुत्र रूप में जन्म लेने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

तात्पर्य : भगवान् ने भगवद्गीता (९.३२) में कहा है—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।

स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिं ॥

“हे पृथापुत्र! जो लोग मेरी शरण में आते हैं भले ही वे निम्नजन्मा—स्त्रियाँ, वैश्य या शूद्र हों, वे परम गन्तव्य तक पहुँच सकते हैं।” कोई चाहे शूद्र के रूप में उत्पन्न हो अथवा स्त्री या वैश्य रूप में, यदि वह बारम्बार अथवा निरन्तर भक्तों की संगति करता है (साधुसङ्गेन) तो वह चरम सिद्धि तक पहुँच सकता है। नारद मुनि अपना उदाहरण देकर इसे समझा रहे हैं। सङ्कीर्तन आन्दोलन महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि चाहे कोई शूद्र हो अथवा वैश्य, म्लेच्छ, यवन या अन्य कुछ, यदि वह शुद्ध भक्त की संगति करता है, उसके उपदेशों का पालन करता है और उनकी सेवा करता है, तो उसका जीवन सफल हो जाता है। यह भक्ति है। आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनम्। भक्ति के अन्तर्गत कृष्ण तथा उनके भक्तों की अनुकूल सेवा सम्मिलित है। अन्याभिलाषिता शून्यम्। यदि कोई कृष्ण तथा उनके भक्त की सेवा करने के अतिरिक्त कोई अन्य इच्छा न करे तो उसका जीवन सफल हो जाता है। नारद मुनि अपने जीवन का व्यावहारिक उदाहरण देकर इसे समझाते हैं।

धर्मस्ते गृहमेधीयो वर्णितः पापनाशनः ।

गृहस्थो येन पदवीमञ्जसा न्यासिनामियात् ॥ ७४ ॥

शब्दार्थ

धर्मः—वह धार्मिक विधि; ते—तुम्हें; गृह-मेधीयः—गृहस्थ जीवन में अनुरक्त रहकर; वर्णितः—(जैसा मैंने) बताया; पाप-नाशनः—पापकर्मों का विनाश; गृहस्थः—गृहस्थ जीवन बिताने वाला; येन—जिससे; पदवीम्—पद; अञ्जसा—सरलता से; न्यासिनाम्—संन्यासियों का; इयात्—प्राप्त कर सकता है।

भगवान् के पवित्र नाम का संकीर्तन इतना शक्तिशाली है कि इससे गृहस्थ भी उसी चरम फल को सरलता से प्राप्त कर लेते हैं, जो संन्यासियों को प्राप्त होता है। हे महाराज युधिष्ठिर, मैंने तुम्हें धर्म की वह विधि बतला दी है।

तात्पर्य : यह कृष्णभावनामृत आन्दोलन की पुष्टि ही है। जो भी इस आन्दोलन में भाग लेता है, चाहे वह किसी भी जाती का हो उस सर्वोच्च फल को प्राप्त कर सकता है, जो एक पूर्ण संन्यासी को प्राप्त होता है—अर्थात् ब्रह्मज्ञान। इससे भी महत्त्वपूर्ण यह है कि वह भक्ति में प्रगति कर सकता है। महाराज युधिष्ठिर ने सोचा कि वे गृहस्थ हैं, अतएव उन्हें अपना मोक्ष प्राप्त करने की कोई आशा नहीं थी। इसीलिए उन्होंने नारद मुनि से पूछा था कि वे भवबन्धन से किस प्रकार छूट सके। लेकिन नारद मुनि ने अपना निजी उदाहरण देते हुए यह बतलाया कि भक्तों की संगति करने तथा हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन करने से कोई भी मनुष्य किसी भी अवस्था में बिना किसी संदेह के चरम सिद्धि (परम पद) प्राप्त कर सकता है।

यूयं नृलोके बत भूरिभागा

लोकं पुनाना मुनयोऽभियन्ति ।

येषां गृहानावसतीति साक्षाद्

गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम् ॥ ७५ ॥

शब्दार्थ

यूयम्—तुम सभी पाण्डव; नृ-लोके—इस जगत में; बत—निस्सन्देह; भूरि-भागाः—अत्यन्त भाग्यशाली; लोकम्—ब्रह्माण्ड के सारे लोक; पुनानाः—शुद्ध कर सकते हो; मुनयः—बड़े-बड़े साधु पुरुष; अभियन्ति—(सामान्य पुरुष की भाँति) देखने आते हैं; येषाम्—जिसके; गृहान्—पाण्डवों के घर को; आवसति—रहता है; इति—इस प्रकार; साक्षात्—प्रत्यक्ष; गूढम्—अत्यन्त गोपनीय; परम्—दिव्य; ब्रह्म—परब्रह्म, कृष्ण; मनुष्य-लिङ्गम्—मानो सामान्य व्यक्ति हों।

हे महाराज युधिष्ठिर, तुम सभी पाण्डव इस संसार में इतने भाग्यशाली हो कि ब्रह्माण्ड के समस्त लोकों को पवित्र करने वाले अनेकानेक सन्तजन तुम्हारे घर में सामान्य दर्शक के रूप में आते हैं। साथ ही, भगवान् कृष्ण तुम्हारे घर में गोपनीय ढंग से तुम्हारे भाई के समान रह रहे हैं।

तात्पर्य : यह वैष्णव की प्रतिष्ठा बढ़ाने वाला कथन है। मानव समाज में ब्राह्मण ही सर्वाधिक सम्मानित व्यक्ति है। ब्राह्मण वह है, जो निर्विशेष ब्रह्म को समझ सके लेकिन शायद ही कोई उन भगवान् को समझ पाता हो, जिन्हें *भगवद्गीता* में अर्जुन द्वारा परं ब्रह्म कहा गया है। *ब्रह्मज्ञान* प्राप्त ब्राह्मण भले ही अत्यन्त भाग्यशाली माना जाये, किन्तु पाण्डव तो इतने भाग्यशाली थे कि परब्रह्म भगवान् उनके घर में सामान्य व्यक्ति की तरह रहते थे। *भूरिभागाः* शब्द बताता है कि पाण्डवगण ब्रह्मचारीयों तथा ब्राह्मणों से भी उच्चतर पद पर थे। अगले श्लोक में नारद मुनि पाण्डवों के पद की महिमा का बारम्बार वर्णन करते हैं।

स वा अयं ब्रह्म महद्विमृग्य
 कैवल्यनिर्वाणसुखानुभूतिः ।
 प्रियः सुहृद्वः खलु मातुलेय
 आत्मार्हणीयो विधिकृद्गुरुश्च ॥ ७६ ॥

शब्दार्थ

सः— भगवान्; वा—या तो; अयम्—कृष्ण; ब्रह्म—परब्रह्म; महत्-विमृग्य—बड़े-बड़े सन्त पुरुष (कृष्ण भक्त) द्वारा खोजे जाने वाले; कैवल्य-निर्वाण-सुख—मोक्ष तथा दिव्य आनन्द के; अनुभूतिः—साक्षात्कार के लिए; प्रियः—प्रिय; सुहृत्—शुभ चिन्तक; वः—तुम सारे पाण्डवों; खलु—के रूप में प्रसिद्ध; मातुलेयः—मामा का पुत्र, ममेरा भाई; आत्मा—हृदय तथा आत्मा; अर्हणीयः—अत्यन्त पूजनीय; विधि-कृत्—निर्देश देते; गुरुः—तुम्हारा गुरु; च—और।

यह कितना आश्चर्यजनक है कि वे परब्रह्म कृष्ण जिन्हें बड़े-बड़े मुनि अपनी मुक्ति तथा शाश्वत आनन्द प्राप्ति के लिए ढूँढते रहते हैं तुम्हारे श्रेष्ठ शुभचिन्तक, मित्र, ममेरे भाई, आत्मा, पूज्य निर्देशक तथा गुरु की भाँति कार्य कर रहे हैं।

तात्पर्य : कृष्ण ऐसे किसी भी व्यक्ति के निर्देशक तथा गुरु बन सकते हैं, जो उनकी कृपा पाने का इच्छुक रहता है। भगवान् गुरु को इसलिए भेजते हैं कि वह भक्त को प्रशिक्षित करे और जब भक्त प्रगत हो जाये तो भगवान् उसके हृदय में रहकर गुरु की भाँति कार्य करें।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥

“जो लोग निरन्तर मेरी भक्ति करते हैं और प्रेमपूर्वक मेरी पूजा करते हैं उन्हें मैं बुद्धि देता हूँ जिससे वे मेरे पास आ सकते हैं।” जब तक कोई भगवान् के प्रतिनिधि गुरु द्वारा पूरी तरह प्रशिक्षित नहीं हो जाता तब तक कृष्ण किसी के साक्षात् गुरु नहीं बनते। अतएव जैसाकि हम पहले कह चुके हैं

भगवान् के प्रतिनिधि गुरु को कभी भी सामान्य मनुष्य नहीं समझना चाहिए। प्रतिनिधि गुरु कभी अपने शिष्य को असत्य ज्ञान नहीं देता, वह केवल पूर्ण ज्ञान प्रदान करता है। इस तरह वह कृष्ण का प्रतिनिधि होता है। कृष्ण भीतर तथा बाहर से गुरु की भाँति सहायता करते हैं। बाहर से वे प्रतिनिधि बनकर और भीतर से साक्षात् रूप में शुद्ध भक्त से बातें करते हैं और उसे उपदेश देते हैं जिससे वह भगवद्धाम वापस जा सकता है।

न यस्य साक्षाद्भवपद्मजादिभी

रूपं धिया वस्तुतयोपवर्णितम् ।

मौनेन भक्त्योपशमेन पूजितः

प्रसीदतामेष स सात्वतां पतिः ॥ ७७ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; यस्य—जिसका (श्रीकृष्ण का); साक्षात्—प्रत्यक्ष; भव—शिवजी; पद्म-ज-आदिभिः—ब्रह्मा आदि के द्वारा; रूपम्—रूप को; धिया—ध्यान से; वस्तुतया—वस्तुतः; उपवर्णितम्—बताया जा सकता है; मौनेन—मौन से; भक्त्या—भक्ति से; उपशमेन—सारे भौतिक कार्यकलापों को पूरा करके; पूजितः—जिनकी इस तरह पूजा की जाती है; प्रसीदताम्—हम पर प्रसन्न हों; एषः—यह; सः—वही भगवान्; सात्वताम्—भक्तों का; पतिः—पालक, स्वामी तथा मार्गदर्शक।

यहाँ अब वही भगवान् उपस्थित हैं जिनका असली रूप ब्रह्मा तथा शिव जी जैसे महापुरुषों की भी समझ में नहीं आता। उनके भक्त अपने निष्ठापूर्ण आत्मसमर्पण द्वारा उनका साक्षात्कार करते हैं। ऐसे भगवान् जो अपने भक्तों के पालनकर्ता हैं और जिनकी पूजा मौन, भक्ति तथा उपशम द्वारा की जाती है हम पर प्रसन्न हों।

तात्पर्य : जब भगवान् कृष्ण शिव तथा ब्रह्माजी जैसे महापुरुषों की समझ में नहीं आते तो सामान्य व्यक्तियों के लिए क्या कहा जाये? लेकिन वे अपनी अहैतुकी कृपा से अपने भक्तों को भक्ति का वरदान देते हैं जिससे वे कृष्ण को यथारूप में समझ सकते हैं। भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः। इस ब्रह्माण्ड में कोई भी ऐसा नहीं जो कृष्ण को सचमुच जान सके किन्तु यदि कोई भक्ति करता है, तो वह उन्हें पूरी तरह समझ सकता है। इसकी पुष्टि भगवान् ने भी भगवद्गीता (७.१) में की है—

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन् मदाश्रयः ।

असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥

“हे पृथापुत्र (अर्जुन)! अब सुनो कि किस तरह मेरी चेतना से पूरित होकर और अपने मन को मुझमें अनुरक्त करके योगाभ्यास करने से तुम बिना संशय मुझे पूरी तरह समझ सकते हो।” भगवान् स्वयं शिक्षा दे रहे हैं कि कोई उन्हें पूर्णतया किस तरह जान सकता है। न केवल पाण्डव अपितु कोई भी व्यक्ति जो कृष्ण के आदेशों को निष्ठापूर्वक स्वीकार करता है, वह भगवान् को यथारूप में समझ सकता है। युधिष्ठिर महाराज को उपदेश देने के बाद नारद मुनि भगवान् का आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए प्रार्थना करते हैं जिससे वे सबों पर प्रसन्न हों और सभी लोग ईश्वर-चेतना में पूर्ण बनकर भगवद्धाम वापस जा सकें।

श्रीशुक उवाच

इति देवर्षिणा प्रोक्तं निशम्य भरतर्षभः ।

पूजयामास सुप्रीतः कृष्णं च प्रेमविह्वलः ॥ ७८ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; इति—इस प्रकार; देव-ऋषिणा—देवर्षि (नारद) द्वारा; प्रोक्तम्—वर्णित; निशम्य—सुनकर; भरत-ऋषभः—भरत महाराज के श्रेष्ठ वंशज, महाराज युधिष्ठिर; पूजयाम् आस—पूजा की; सु-प्रीतः—अत्यधिक प्रसन्न होकर; कृष्णम्—कृष्ण की; च—भी; प्रेम-विह्वलः—कृष्ण के प्रेम में विभोर।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा : श्रेष्ठ भरतवंशी युधिष्ठिर ने नारद मुनि के वर्णन से सब कुछ जान लिया। इन उपदेशों को सुनने के बाद उन्हें अपने हृदय में अत्यन्त आनन्द का अनुभव हुआ और उन्होंने अत्यन्त प्रेमविह्वल होकर भगवान् कृष्ण की पूजा की।

तात्पर्य : यह स्वाभाविक है कि जब किसी को पता चल जाता है कि उसके परिवार का कोई व्यक्ति इतना महान् है, तो यह सोचकर कि “ओह! ऐसा महापुरुष हमारा सम्बन्धी है” प्रेमविह्वल हो जाता है। यद्यपि पाण्डव पहले से श्रीकृष्ण को जानते थे, किन्तु जब उन्होंने नारद मुनि से यह सुना कि वे भगवान् हैं, तो पाण्डवों को यह सोचकर आश्चर्य हुआ कि “अरे! भगवान् तो हमारे ममेरे भाई के रूप में हमारे साथ हैं।” निश्चय ही उनको अपार हर्ष हुआ।

कृष्णपार्थावुपामन्त्र्य पूजितः प्रययौ मुनिः ।

श्रुत्वा कृष्णं परं ब्रह्म पार्थः परमविस्मितः ॥ ७९ ॥

शब्दार्थ

कृष्ण—कृष्ण; पार्थी—तथा महाराज युधिष्ठिर; उपामन्त्र्य—विदा होकर; पूजितः—उन्के द्वारा पूजित होकर; प्रययौ—चले गये; मुनिः—नारद मुनि; श्रुत्वा—सुनकर; कृष्णम्—कृष्ण के विषय में; परम् ब्रह्म—भगवान् के रूप में; पार्थः—महाराज युधिष्ठिर; परम-विस्मितः—अत्यधिक चकित।

कृष्ण तथा महाराज युधिष्ठिर द्वारा पूजे जाकर नारद मुनि उनसे विदा लेकर चले गये।

युधिष्ठिर महाराज अपने ममेरे भाई कृष्ण को भगवान् के रूप में सुनकर अत्यधिक चकित हुए।

तात्पर्य : यदि नारद तथा युधिष्ठिर के बीच हुए इस संवाद को सुनने के बाद भी किसी के मन में कृष्ण के भगवान् होने में कोई सन्देह रह जाता है, तो उसे चाहिए कि वह तुरन्त ही अपने सन्देह को त्याग कर दे। असंशयं समग्रम्—बिना किसी सन्देह तथा बिना किसी दोष के मनुष्य को चाहिए कि कृष्ण को भगवान् समझे तथा उनके ही चरमकमलों की शरण ले। सामान्य पुरुष वेदों का श्रवण करके भी ऐसा नहीं करते किन्तु यदि कोई भाग्यशाली हुआ तो जन्म-जन्मांतरों के बाद वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है (बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते)।

इति दाक्षायणीनां ते पृथग्वंशाः प्रकीर्तिताः ।

देवासुरमनुष्याद्या लोका यत्र चराचराः ॥ ८० ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; दाक्षायणीनाम्—महाराज दक्ष की कन्याओं के, जैसे अदिति तथा दिति; ते—तुम्हारा; पृथक्—अलग; वंशाः—वंश; प्रकीर्तिताः—(मेरे द्वारा) वर्णित किये गये; देव—देवता; असुर—असुरगण; मनुष्य—मनुष्य; आद्याः—इत्यादि; लोकाः—इस ब्रह्माण्ड के सारे लोक; यत्र—जिसमें; चर-अचराः—जड़ तथा चेतन प्राणी।

इस ब्रह्माण्ड के भीतर समस्त लोकों में सारे जड़ तथा चेतन प्राणी जिनमें देवता, असुर तथा मनुष्य सम्मिलित हैं महाराज दक्ष की पुत्रियों से उत्पन्न हुए। इस तरह मैंने उन सबों का तथा उनके विभिन्न वंशों का वर्णन कर दिया है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कन्ध के अन्तर्गत “सुसंस्कृत मनुष्यों के लिए उपदेश” नामक पन्द्रहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

वैशाखी शुक्ल एकादशी, तदनुसार १० मई १९७६ की रात में पञ्चतत्व मन्दिर नव नवद्वीप (होनोलुलू) में श्रीकृष्ण चैतन्यप्रभु नित्यानन्द, श्रीअद्वैत गदाधर, श्रीवासादिगौरभक्तवृन्द की कृपा से पूर्ण हुआ। अतः हम आनन्द से—हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे। हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे—किर्तन करें।

॥सप्तम स्कन्ध पूर्ण॥